हिंदी की
अमर कहानियाँ
संपादक
डॉ॰ जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम॰ ए॰

हिन्दी की अमर कहानियाँ

सम्पादक

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी लिट्०

सरस्वती प्रेस, बनारस

प्रथम संस्करण, १९५२
द्वितीय संस्करण, १९५३

मूल्य—दो रुपया

मुद्रक—रामआसरे कक्कड़, हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद।

सूची

भूमिका

कहानी का सिद्धान्त पक्ष

कहानी के विषय में सबसे पहला प्रश्न यही होगा कि इसकी क्या विशेषताएँ हैं? इस शब्द का क्या अर्थ है? और उस अर्थ का क्या विस्तार-क्रम है? आधुनिक काल की साहित्य विवेचना में इस शब्द का व्यवहार एक विशेष और पारिभाषिक अर्थ में होता है। अतः सर्वप्रथम इसकी उन मूल वृत्तियों—गुणधर्मों का उल्लेख आवश्यक है जिनके कारण इसमें और रचना के अन्य प्रकारों में अन्तर दिखाई पड़ता है—लक्ष्य के आधार पर और रचना-विधान के आधार पर भी।

यदि लक्ष्य और स्वरूप का विचार किया जाय तो कहानी नाटक, उपन्यास, प्रबन्ध काव्य इत्यादि से सर्वथा पृथक् है। इसमें विषय की एकोन्मुखता ही मूल वृत्ति है। नाटक इतिवृत्त को नाटकीय अवतारणा में और उपन्यास जीवन और जगत की नानारूपता अथवा अन्य प्रकार की विविधता में संलग्न रहता है। कहानी में किसी एक ही विषय अथवा भाव की ओर ध्यान रहता है। इस प्रकार प्रतिपाद्य की एकोन्मुखता अथवा एकांगिता ही इसका परम लक्ष्य है और यही उसका भेदक तत्त्व है जो इसे रचना के अन्य प्रकारों से पृथक् कर देता है। लक्ष्य की इसी ऐकान्तिकता के कारण इस रचना में विभिन्न तत्वों—वस्तु, चरित्र, देश, काल इत्यादि का स्वरूप बदल जाता है। सभी पर उसी मूलवृत्ति का प्रभाव छाया रहता है।

इसके अतिरिक्त इसकी दूसरी विशेषता है प्रभावान्विति, सम्पूर्ण रचना में प्रसरित भाव, विचार अथवा विषय-विशेष अन्त में आकर अपने सम्पूर्ण बिखरे अथवा फैले हुए विस्तार को एक में अन्वित कर लेता है। इस प्रकार समूची कृति में से कोई एक सुगठित एकत्व का बोध

होता है। उपन्यास अथवा नाटक में इस प्रकार की एकनिष्ठ एकता अन्त में आकर केन्द्रित हो जाय यह नितान्त आवश्यक नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कहानी गद्य-रचना का वह भेद है जिसमें परिमित विस्तार के योग से किसी एक ही तथ्य का ऐसा संवेदनशील प्रतिपादन हो कि उसमें कोई प्रभावान्विति दिखाई पड़े।

उपन्यास और कहानी के पारस्परिक सम्बन्ध-योजना के विषय में जो भ्रान्ति प्रायः सामान्य विवेचक को हो जाया करती है उसका निराकरण इस आधार पर सरलता से हो जायगा। उपन्यास में विषय के वैविध्य और कहानी में उसकी एकोन्मुखता ही भेदक बात है और इसलिए दोनों के क्षेत्र अथवा विस्तार-भूमि भिन्न प्रकार की होती है। उपन्यास में यह भी आवश्यक नहीं कि वह अपने भीतर के बहुमुखी विस्तार-भार को किसी एक ही केन्द्र में लाकर उसकी समष्टि खड़ी करे पर कहानी के लिए यह विधानतः अनिवार्य रहता है। इस तरह उपन्यास-रचना अपने लक्ष्य के कारण कहानी से सर्वथा पृथक् हो जाती है। तत्वतः दोनों प्रकार की रचनाओं में किसी प्रकार का अधिक साम्य नहीं रह जाता और दोनों अपनी-अपनी बात अपने-अपने ढंग से रखती हैं। उपन्यास और कहानी के विषय में यह कहना कि एक बड़ी चीज होती है और दूसरी छोटी, अथवा एक दस घण्टे में पढ़ी जा सकती है और दूसरी आध घण्टे में, अथवा एक महाकाव्य है, दूसरा खण्डकाव्य नितान्त अशुद्ध और भ्रामक है।

रचनाशैली के विचार से कहानी नाटक के अधिक समीप है और उससे भी अधिक समीप है एकांकी के। इसका कारण वही प्रभावान्विति है, जो नाटक और एकांकी में एकछत्र राज्य करती है। एकांकी में तो एकोन्मुखता प्रायः उसी प्रकार की होती है जैसी कहानी में दिखाई पड़ती है। वहाँ ध्यान के केन्द्रीयकरण का कारण कोई एक प्रतिपाद्य अथवा मूलभाव ही रहता है। अवश्य ही एकांकी में संवाद-तत्त्व माध्यम रहता है और कहानी का प्रसार इतिवृत्त-प्रधान होता है।

कहानी का अपनापन इसी में रहता है कि किसी कथाक्रम में कुतूहल जगा चले—चाहे वह घटना पर आश्रित हो अथवा चरित्र या मनोवैज्ञानिक ऊहापोह पर।

उपयोगिता के विचार से भी कहानी का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा कोलाहलपूर्ण जीवन की दौड़ में जब भी थोड़ा-बहुत समय निकले आसानी से भावों को संचरित करने अथवा विचारों में उन्मेष उत्पन्न करने का कार्य हो सकता है। लघु विस्तार में कोई न कोई द्रष्टव्य, विचारणीय और मार्मिक तथ्य सामने आ जाता है। इस लघु विस्तार-वाली बात में किसी प्रकार की भ्रान्ति के लिए अवसर नहीं है। कहानी बड़ी होकर भी कहानी ही बनी रहेगी; उसे उपन्यास की संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती। प्रेमचन्द्रजी की 'दो सखियाँ' पचासी पृष्ठों की होकर भी कहानी ही है और जैनेन्द्रजी की 'परख' रचना छोटा उपन्यास ही कही जायगी। इस विषय में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं हो सकता। जैसा कहा जा चुका है कि विषय का वैविध्य अथवा एकांगिता और एकदर्शीयता ही दोनों को पृथक् करने में सहायक रहती है।

रचना-विधान की दृष्टि से कहानी में केवल एक मर्म रहता है। कथानक को अथवा मनुष्य और परिस्थिति को किसी हृदयस्पर्शी स्थल से उठाकर उतना ही बढ़ाना चाहिए जितने की नितान्त आवश्यकता हो। अनुद्दिष्ट विस्तार-भार यहाँ बिलकुल नहीं होना चाहिए। इसीलिए कहानी में आरम्भ और अन्त चमत्कारपूर्ण बनाने में सचेष्ट रहना पड़ता है। आरम्भ जितना ही आकर्षक और कुतूहलवर्धक हो अन्त उतना ही अनुमितार्थी और संकेतप्रिय हो, प्रेमचन्द्रजी की तरह जो इस विषय में प्रमाद करते हैं वे नीरसता का सृजन करते हैं। 'प्रसाद' की कहानियों में अन्त प्रभावोत्पादक दिखाई पड़ता है और प्रेमचन्द्रजी में सामान्यतः इस विषय की उपेक्षा ही मिलती है।

कहानी में रचना-विधान सम्बन्धी जो एकोन्मुखता प्रकट होती है उसका प्रभाव वातावरण और परिस्थिति-योजना पर भी साफ देखने

में आता है। चरित्र और घटना की प्रधानता जहाँ मिलती है वहाँ अन्य तत्व सहायक रूप में रहते हैं इसलिए उभड़कर या तो चरित्र की ही विशेषताएँ दिखाई पड़ेंगी, जैसे 'गुण्डा' में; या फिर किसी घटना का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ता है कि चरित्र तथा अन्य तत्व बदल जाते हैं, जैसे 'सुजान-भगत' में। चरित्र और घटना के अतिरिक्त कभी-कभी कुशल कलाकार ऐसी भी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि केवल वातावरण में ही पाठक का चित उलझा रह जाय। सारे आकर्षण और कुतूहल का केन्द्र वही बना रहता है। वहाँ न कोई प्राधान्य चरित्र में मिलता, न कोई घटना ही ऐसी घटित होती जिसमें कोई प्रभाव-चमत्कार दिखाई पड़े। ऐसी कहानियों में लक्ष्य ही यह होता है कि देश और स्थान का ऐसा सजीव विवरण उपस्थित किया जाय कि उसकी एक इकाई खड़ी हो जाय। ऐसे अवसरों पर किसी चरित्र अथवा घटना का सामान्य संयोजन केवल इसलिए कर लिया जाता है कि इतिवृत्तात्मक एकसूत्रता बनी रहे; उसका विशेष महत्त्व नहीं रहता। अँगरेज़ी में एटमास्फीयर स्टोरीज़—वातावरण प्रधान कहानियों का एक वर्ग ही पृथक् मिलता है। परन्तु हिन्दी में स्वतंत्र रूप से इस पद्धति पर कहानियाँ प्रायः नहीं ही हैं। यों तो 'प्रसाद' 'अज्ञेय' राधाकृष्ण इत्यादि में इस ढंग की सजीवता और प्रधानता प्रायः झलकती है। 'सलीम', 'पुरस्कार' और 'सालवती' में इसका अच्छा स्वरूप प्राप्त है। 'अज्ञेय' के 'जय-दोल' संग्रह में इसका स्वरूप खूब उभड़ा है।

शीर्षक-निर्वाचन को महत्वपूर्ण अंग मानना चाहिये। इसमें प्रधान लक्ष्य यही रहता है कि यदि कहानी को क्रमशः छोटी करते-करते दो-चार शब्दों में बाँध दें तो वे ही शब्द शीर्षक बन जायँगे, कहीं चरित्र-प्रधान रचना में मुख्य पात्र के नाम को ही शीर्षक बना दिया जाता है, जैसे—'सलीम', 'सालवती', 'जय-दोल'। कहीं घटना के चमत्कार का ही नाम देना संगत मालूम पड़ता है जैसे—'बैल की बिक्री'। कहीं कहानी के प्रतिपाद्य मूलभाव को लक्ष्य में रखकर शीर्षक निर्धारित होता है

जैसे—'मैच' और 'अशिक्षित का हृदय'। कभी-कभी लेखक कुतूहल और जिज्ञासा जगाने के निमित्त शुद्ध काल्पनिक और रोमांचिक शीर्षक की व्यवस्था करता है; जैसे 'कानों में कँगना' और 'स्वर्ग के खँडहर' में। शीर्षक-विधान का सौन्दर्य इसी में रहता है कि उसका संकेत पाकर विषय के प्रसार अथवा उसके प्रतिपाद्य का स्पष्ट आभास मिल जाय। ऐसा मालूम पड़े कि उस रूप में प्रयुक्त कुछ शब्द कहानी का अभिप्राय व्यक्त करने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि प्रतिपाद्य का कथन सांकेतिक हो अथवा ध्वनि के सहारे उसका आभास दे दिया जाय। ऐसी स्थिति में तदनुरूप शीर्षक भी ध्वनिमूलक ही रहेगा; जैसे—'कुत्ते की पूँछ'। इस प्रकार शीर्षक-निर्वाचन में अनेक दृष्टि भेद हो सकते हैं और अपनी अभिरुचि के अनुसार कृति-निर्माता किसी भी ढंग का शीर्षक स्वीकार कर सकता है। यह भी हो सकता है कि एक ही लेखक अनेक पद्धति के शीर्षक दे, पर उसकी व्यक्तिगत पद्धति कोई एक ही कही जायगी। कोई प्रकार विशेष मात्रा में अधिक अवश्य रहता है।

कहानी का वर्गीकरण

कहानियों के वर्गीकरण के अनेक सिद्धान्त हैं, परन्तु मुख्य आधार दो हैं। कहीं विचारकर्ता विषयगत विश्लेषण करता है और कहीं रचना-पद्धति के आधार पर। कहानियों की रचना-शैली का यदि विचार किया जाय तो कुछ कहानियाँ इस प्रकार लिखी मिलेंगी जिनमें लेखक अपने अनुभवों और घटना-प्रबन्ध को इस ढंग से लिखता है कि आत्मचरित का रूप खड़ा हो जाता है। इसे आत्म-चरितात्मक शैली कहा जा सकता है। इसमें उत्तम पुरुष और एक वचन का प्रयोग प्रधान होता है; जैसे—'दो बाँके' और 'जैतू' में। इसके अतिरिक्त कुछ कहानियों में लेखक का रूप इतिहास-लेखक-सा रहता है। उनमें लेखक अपने विषय-विस्तार के भीतर आनेवाली सम्पूर्ण घटनाओं के कार्य-कारण-परिणाम का निर्दिष्ट ज्ञाता होता है और उन घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों का कर्त्ता

अथवा परिणाम-उपभोक्ता जो मानव है उसके अन्तर्जगत् तथा सामाजिक जीवन का दर्शक एवं समीक्षक भी वही होता है। ऐसी स्थिति में वह सच्चे विवरण-लेखक और आलोचक के रूप में दिखाई पड़ता है। स्वयं सूत्र-धार बनकर अभिनय का नियंत्रण करते हुए दर्शकों की भाँति विश्लेषण और व्याख्या करता चलता है। इस पद्धति पर लिखी कहानियाँ अधिक दिखाई देती हैं; जैसे—'मंत्र', 'सुजाता', 'भगत', 'गुण्डा', पुरस्कार। इससे भिन्न पत्रात्मक शैली होती है। उसमें लेखक कुछ निर्दिष्ट पात्रों के बीच इस ढंग से पत्र-व्यवहार कराता है कि उनके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, संपादित हुए कार्यव्यापार और भावों की अनेकरूपता इस प्रकार से लिखी जाती है कि उनका एक क्रम स्थापित हो जाता है। ये पात्र प्रायः मित्र होते हैं। एक पात्र दूसरे के पास पत्र लिखता है। उसमें अपने यहाँ की घटनाएँ, क्रिया-व्यापार और तद्विषयक व्यक्तिगत भावनाएँ और विचार लिखता है। उसके प्रत्युत्तर में दूसरा मित्र पात्र अपने पक्ष की बातों को लिखता है। इसी प्रकार प्रबन्ध का निर्वाह होता है। इसका अच्छा उदाहरण 'दो सखियाँ', 'चन्द हसीनों के खुतूत' अथवा 'एक सप्ताह' है।

विषयगत वर्गीकरण कहानियों के विभिन्न तत्त्वों के न्यूनाधिक्य पर आश्रित है। वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन (संवाद), देशकाल, उद्देश्य इत्यादि तत्त्वों के योग से कहानी की रचना होती है। इनमें से यदि किसी एक तत्व का प्राधान्य कहानी में दिखाई पड़ा तो उसी आधार पर उस कहानी का भेद-कथन किया जायगा। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि उसमें अन्य तत्त्वों का सर्वथा अभाव होगा; प्रत्युत अभिप्राय प्रधानता अथवा न्यूनाधिक्य का है। ऐसी कहानियाँ लिखी गई हैं जिनमें प्रत्यक्ष प्रधानता चरित्र की है अथवा उसके वस्तु (घटना) अथवा उद्देश्य (सिद्धान्त-प्रतिपादन और उपदेश) में ही विशिष्टता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार तत्त्वों के न्यूनाधिक्य के विचार से कहानियाँ चरित्र प्रधान (जैसे 'गुण्डा' और 'खूनी')

वस्तु (घटना) प्रधान (जैसे 'सुजान-भगत' और 'बैल की बिक्री') और उद्देश्य-प्रधान (जैसे 'पिसनहारी का कुँआँ' और 'पंच परमेश्वर') होती हैं। कुछ लोग विषयगत वर्गीकरण का साधारण और स्थूल अर्थ लेकर ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, पौराणिक और राजनीतिक इत्यादि भेद उपस्थित करते हैं। परन्तु ऐसा करना समुचित नहीं माना जा सकता क्योंकि इन विषयों की व्याप्ति अत्यधिक है और वर्गीकरण का विस्तार निर्धारित करना कठिन हो जायगा।

इसके अतिरिक्त यदि संक्षेप और स्पष्टता अभिप्रेत हो तो कहानियों के केवल दो भेद करने चाहिएँ—इतिवृत्त-प्रधान और भावप्रधान। इतिवृत्त-प्रधान के अन्तर्गत उन सब कहानियों का समावेश होना चाहिए जिनमें कथांश अधिक है, भले ही प्रबन्ध-विस्तार के भीतर कहीं घटना की, और कहीं चरित्र की प्रधानता हो। उपदेश और सिद्धांत-प्रतिपादन में भी इसी वर्ग की कहानियाँ अधिक योग देंगी, क्योंकि उदाहरण उपस्थित करने में सरलता होगी। इस वर्ग के प्रतिनिधि लेखक मुंशी प्रेमचन्द हैं। इनसे भिन्न वे कहानियाँ हैं, जिनमें प्रतिपाद्य कोई भाव रहता है और उसके परिचय, आलम्बन, उद्दीपन इत्यादि भर उपस्थित किये जाते हैं। भले ही अनुभाव प्रभृति अंगों के चित्रण के विचार से अथवा भाव की विभिन्न स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए थोड़ी सहायता इतिवृत्त से भी ली जाय; परन्तु वहाँ उद्देश्य केवल किसी भाव विशेष की विवृति भर रहती है। इस वर्ग के लेखकों में प्रधान 'प्रसाद' जी थे।

हिन्दी में कहानियों का विकास-क्रम

कहानी का कहना और सुनना मानव-समाज की सहज वृत्ति है। इसी लिए सभी साहित्यों में इसका अस्तित्व अति प्राचीन युग से ही दिखाई पड़ता है और समाज के विकास के साथ इसके स्वरूप और उपयोग में वैविध्य मिलने लगता है। संसार में, कहानी रचना के एक प्रकार के रूप में, सबसे पहले कहाँ लिखी गई इसकी विवेचना करना

बहुत कठिन है, पर एक बात देशी और विदेशी विभिन्न लेखकों ने स्वीकार की है कि भारतीय वाङ्मय में कहानी का जो प्राचीनतम स्वरूप प्राप्त होता है वह सुदृढ़ और साफ है और साथ ही संसार के ज्ञानवर्धन में सहायक हुआ है। अनेक देशों पर उसका प्रभाव लक्षित होता है। उनमें वेदों से सम्बन्धित रचनाएँ भी मिलती हैं और भारतीय अभिप्राय को लेकर अपने ढङ्ग से भी लिखी गई हैं। बुद्धकाल में तो कहानियों का विराट उत्स प्रकट हुआ और धर्म-प्रसार के साथ रचना के इस भेद का भी प्रभाव चतुर्दिक फैला।

इतना कह चुकने पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वर्तमान युग की कहानी-कला का कोई सीधा सम्बन्ध उन प्राचीन काल की आख्यायिकाओं से नहीं है। आज की कहानी की कथा प्राचीन नहीं कही जा सकती। हिन्दी में इसका संगठन इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से आरम्भ हुआ। हरिश्चन्द्र युग में आकर भी राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' ऐसी कहानियों की रचना हुई। पर गद्य के रचना-प्रकार की तरह इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई थी। इसलिए इस ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया और यह बात आगे के लिए रह गई।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 'सरस्वती' के प्रकाशन काल से इसकी ठोस नींव पड़ी; और आरम्भ में कुछ लोगों ने एक-एक, दो-दो कहानियाँ लिखीं भी, पर काशी से 'इन्दु' के प्रकाशित होने पर क्रम से और नियमित रूप से कहानियाँ लिखी जाने लगीं। इस आरम्भिक युग के पल्लवन का सारा श्रेय, बा० जयशंकर 'प्रसाद' को था क्योंकि उनकी 'ग्राम' शीर्षक कहानी से लेकर 'सालवती' तक आने में हिन्दी का गद्य साहित्य रचना के इस प्रकार में सर्वथा सम्पन्न हो गया है। 'प्रसाद' जी के साथ आरम्भ में लिखनेवालों में पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, जी० पी० श्रीवास्तव, पं० विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पं० ज्वालादत्त शर्मा प्रमुख थे। इसी समय श्री चतुरसेन शास्त्री,

पं० बद्रीनाथ भट्ट, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और बा० शिवपूजन सहाय ने भी कुछ कहानियाँ लिखीं। इन आरम्भिक लेखकों में यों तो सामान्यतः सभी लिखनेवाले सच्चे, सहृदय और अनुभूतिप्रवण थे, पर विषय के प्रतिनिधि स्थापक कृतिकार 'प्रसाद' जी तो आगे चलकर अपने ढंग के बेजोड़ प्रमाणित हुए।

'छाया' में संग्रहित कहानियाँ 'प्रसाद' की आरम्भिक रचनाएँ हैं, पर उनके प्रौढ़ रूप का संकेत देनेवाली बीज-वृत्तियाँ उनमें दिखाई पड़ती हैं। भाव-दर्शन का आग्रह और अतीत-चित्रण की आकांक्षा उन कृतियों में भी मिलती है। 'प्रतिध्वनि' में 'प्रसाद' ने नूतन पद्धति का आश्रय लिया है और लघुप्रसार के इतिवृत्तों द्वारा हृदय की किसी विशेष तरलता की झलक उपस्थित की है। कहीं-कहीं यह झलक ऊँचे दर्जे के गद्य-काव्य का आनन्द उत्पन्न करती है। 'आकाशदीप' में आकर उन्होंने एक नवीन क्रियाकल्प (Technique) अथवा रचना-विधान का प्रयोग किया और वह उनकी कवितामयी प्रकृति के नितान्त अनुरूप ठहरा। इस संग्रह की कहानियाँ मूलतः काव्यात्मक होने के कारण संकेतपूर्ण, भावात्मकता का स्वच्छ विश्लेषण करनेवाली और अलंकार-प्रधान हैं। अनुमानाश्रित पर्यवसान इनकी चमत्कारपूर्ण विशेषता है और भाव के अनुसार वातावरण का सृजन इन कहानियों का प्राण है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में आधुनिक कहानी-रचना का पूर्ण परिपाक दिखाई पड़ा। इतिवृत्तों में से प्रभावपूरित स्थलों का निर्वाचन, मानव की रंगीन अन्तर्वृत्तियों का बड़े कौशल के साथ उद्घाटन, भावों का द्वन्द्व और देशकाल की सजीवता का संश्लिष्ट चित्रण इन संग्रहों की विशिष्टता है। 'प्रसाद' जी की प्रतिनिधि कहानियों में दो बातों का होना आवश्यक मानना होगा—भावों का साकार स्थापन और अतीत सजीव गुम्फन। 'प्रसाद' के साथ आन्तर माधुर्य की ओर अपनी ललक दिखानेवालों में सूर्यपुरा बिहार के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह और श्री चतुरसेन शास्त्री प्रमुख थे।

'प्रसाद' के साथ मुंशी प्रेमचन्द के मिलने से सोने में सुगन्ध उत्पन्न हो गया और कहानी की निर्मिति में सर्वांगीय पूर्ति आ गई। हृदय की सरसता और उद्भावना की संगति बुद्धि-जन्य व्यवहार-ज्ञान की विविधता के साथ बैठ गई। 'प्रसाद' की भावुक कल्पना के साथ प्रेमचन्दजी के संसार-विषयक अनुभूति-मूलक बोध का सन्तुलन ठीक से हो गया! यह सन्तुलन विषय के निर्वाचन, प्रसार और समाप्ति में साफ दिखाई पड़ता है। यों तो आत्मसंगीत की बात भी प्रेमचन्द जी ने की है पर उनमें ऐसी विशेष मानसिक तरंग कभी-कभी ही उठती थीं। ग्राम और किसान को उन्होंने बड़ी बारीकी से देखा-समझा था। उनमें उनका चित्त और बुद्धि रम चुकी थी। उसी के सच्चे रूप को समझने के फेर में उन्होंने नगर और नागर वृत्ति को भी देखने की चेष्टा की है और देश के युगधर्म के अनुरूप दोनों की पूर्ण अभिव्यक्ति को ही अपनी रचनाओं का मूल उद्देश्य बनाया।

इसके अतिरिक्त देशव्यापी सांस्कृतिक संघर्ष का भी अध्ययन उन्होंने सूक्ष्मता से किया। राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ नूतन शिक्षा प्रणाली और अंगरेजी सभ्यता के प्रसार से पराभूत भारतीय जन-संघ अपने अतीत सांस्कृतिक सौन्दर्य की गरिमा को भूलने लगा था और सम्पूर्ण समाज में दो प्रकार की संस्कृतियों की खींच-तान फैली हुई थी। इसका बुरा प्रभाव विशेषतः महिलाओं और कोमलमति युवकों पर पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में युग के प्रतिनिधि रूप में प्रतिभापूर्ण साहित्य स्रष्टा के लिए आवश्यक हो गया कि ऐसे-ऐसे चित्र और परिणाम वह उपस्थित करे जिसमें मंगल विधायक संकेत सामने आएँ। प्रेमचन्दजी ने इसी अभिप्राय को लेकर 'शान्ति', 'सोहाग का शव', 'दो सखियाँ', 'अलग्योझा, इत्यादि अनेक कहानियाँ लिखीं और उनमें प्रतिपादित किया—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

प्रेमचन्दजी ने कुछ कहानियाँ ऐसी भी लिखी हैं जिनमें केवल या तो विशेष मनःस्थिति का प्रकाशन है अथवा हृदय की किसी कोमल वृत्ति का

स्वरूप खड़ा होता है। 'कफ़न', 'ईदगाह', 'ऐक्ट्रेस', 'बड़े भाई साहिब' इत्यादि रचनाएँ इसी कोटि में आवेंगी। इनकी लिखी सभी प्रकार की कहानियों में जो विशेषता व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है वह है देशकाल की छाया। इसी कारण से इन्हें युगधर्म का सच्चा चित्रकार माना जाता है।

प्रेमचन्दजी की सामान्य विशेषताओं के अनुरूप ही पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', श्री 'सुदर्शन' और बा० सियारामशरण गुप्त की रचनाएँ भी निकलीं। दरिद्र और मध्यमवृत्ति वालों की कौटुम्बिक और सामाजिक वस्तुस्थिति के उद्घाटन की ओर इन लोगों की विशेष रुचि दिखाई पड़ी। साथ ही अन्तःकरण की कोमल वृत्तियों के स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण में भी इन्हें विशेष सफलता मिली है।

इसी समय (१९२०-२२) राजनीतिक आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा और समस्त देश में जागरण और राष्ट्रप्रेम की लहर चल पड़ी। चतुरसेन शास्त्री ने 'खूनी' ऐसी कहानी लिखी और अन्य कई लेखकों ने देशी और विदेशी भूमिकाओं का आधार लेकर देश पर निछावर होनेवाली धुन में मस्त युवकों के बलिदान और उत्साह की कथा बड़ी ओजस्वी और वेगपूर्ण भाषा में कही। इसके उपरान्त तो रचना के इस क्षेत्र में खासी भीड़ एकत्र हो गई और एक-से-एक सुन्दर कृतियाँ निकलती रहीं। ऐसे भी कृतिकार हुए जिन्होंने कम लिखा पर अपनापन लिये हुए लिखा और ऐसे भी लेखक हुए जिन्होंने अधिक लिखा पर कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर सके। प्रमुख लोगों में सर्वश्री रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, जैनेन्द्रकुमार, ऋषभचरण, धनीराम 'प्रेम', यशपाल, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, वाचस्पति पाठक, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, राजेश्वरप्रसाद सिंह, मोहनलाल महतो 'वियोगी', वीरेश्वर सिंह, ज्ञान-चन्द जैन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, राधाकृष्ण 'पहाड़ी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', विष्णु प्रभाकर प्रभृति हैं। इन पुरुष लेखकों के साथ कुछ उत्तम लेखिकाएँ भी हैं जिनमें परिस्थिति भेदक अन्तःवृत्तियों के प्रकाश ही पूरी

तत्परता दिखाई पड़ी है और उनकी भाषा में भी बल और सफाई का अच्छा रूप है। ऐसी कलाकार महिलाओं में सर्वश्री शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, सुमित्रा कुमारी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ऐसी हैं जिनमें उनकी अपनी विशेषताएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं।

उक्त कलाकारों की प्रवृत्तियों को देखकर कुछ बातों का स्पष्ट संकेत मिलता है। जीवन और जगत की नाना स्थितियों और भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निवेदन की ओर तो सामान्यतः सभी लेखकों का ध्यान बना रहता है, पर कुछ ऐसे भी कलाकार हैं जो इतनी भीड़-भाड़ में चलना पसन्द नहीं करते। इसलिए ऐसे लोग अपनी एकान्तिक विशेषता गढ़कर और शैली विशेष के पथ-प्रदर्शक बनने की स्पृहा से प्रेरित होकर कोई एक अंग पकड़कर चलने की चेष्टा कर रहे हैं। जीवन की अनेकानेक जटिलताओं के कारण वे जीवन और जगत के प्रत्यक्ष अध्ययन से दूर ही रह जाते हैं और केवल कल्पना अथवा बुद्धि के बल पर सर्जना करते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि रचना का प्रतिपाद्य अथवा लक्ष्य कृतिकार की वैयक्तिक रुझान हो रही है।

इस प्रकार कहीं तो कहानी के क्षेत्र में निबन्ध और रेखाचित्रों का आक्रमण दिखाई पड़ता है तो कहीं विशेषता विधायक एकांगिता के दर्शन हो रहे हैं। कहीं कोई रतिमूलक काम-वासना की विविध रंगीन स्थितियों के उद्घाटन में प्रवृत्त है, कहीं कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बारीकियों को लेकर तर्क-वितर्क करता मिलता है तो कहीं कोई रचना विधान में ही कुछ नूतनता का चमत्कार उत्पन्न करके आकर्षण पैदा कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज कहानी-रचना के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों का बाजार गरम है। कहानी न लिखकर लोग व्यक्तिगत चमत्कारवाद की ओर झुकते जा रहे हैं और इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध लोक से विच्छिन्न होता जा रहा है। दूसरी ओर शून्य में व्यक्ति अपनी ठूँठी बुद्धि को खड़ाकर साहित्य की विडम्बना प्रकट कर रहा है और साहित्य के स्थान पर व्यक्ति निर्मित हो रहा है।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

वैश्य घराने में सन् १८८९ में जन्म। आपके पिता काशी के प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न व्यापारी थे और खाने की तम्बाकू तथा सुँघनी का व्यवसाय होने के कारण 'सुँघनी साहु' नाम से प्रसिद्ध थे।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा पिता की मृत्यु के कारण १२ वर्ष की अवस्था से ही छूट गयी। पश्चात् बड़े भाई के संरक्षण में घर पर हिन्दी, संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी और उर्दू का अध्ययन किया। साहित्यिक मंडली से घिरे रहते थे—आपका जीवन ही साहित्य में था, यहाँ तक कि दूकान के रद्दी कागजों तक पर आप कविता लिखते रहते थे। संस्कृत अध्ययन तथा इतिहास के मनन में आपकी विशेष अभिरुचि थी। वेदों के अनेक प्रकरणों पर आपकी कुछ गवेषणाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

नाटक, कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना सभी में आपकी सहज गति थी। 'कामायनी' महाकाव्य का सृजन आधुनिक कविता-क्षेत्र में एक ऐतिहासिक स्तम्भ रूप में है।

अमर कथाकार प्रेमचन्द के देहावसान के एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय के उपरान्त साहित्य के इस जाज्वल्यमान् नक्षत्र का भी १५ नवम्बर १९३७ को तिरोधान हो गया।

रचनाएँ—सात कविता पुस्तकें, नौ नाटक, तीन उपन्यास, अनेक कहानियाँ, साहित्यिक निबन्ध, आलोचना आदि।

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिनमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था – देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में, समतल उर्वरा-भूमि से, सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ; भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुमकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का

यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौषेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सँभालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से। और अरुण देख रहा था, कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्रायें। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण मुद्राओं को महाराज पर न्यौछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—

"अबोध ! क्या बक रही है ? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार ! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राजकीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है, मन्त्रिवर ! महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव ! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या ! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, मधूलिका उसी वीर की कन्या है ?"

"हाँ, देव !"—सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर ?"—महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर, नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक; अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ उत्सव समाप्त हुआ। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर, विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में, अनमनी, चुपचाप बैठी रही।

* * *

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँड़ेर पर कपोती, एक पैर पर खड़ी, पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था; वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए, खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द! अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया; उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान..."

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि!"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का? आह! मनुष्य कितना निर्दय है! अपरिचित, क्षमा करो! जाओ अपने मार्ग!"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी..."

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम नहीं है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर, एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।"—मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था। और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह, सजल नेत्रों से, उड़ती हुई धूल देखने लगी।

* * *

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह, नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डण्ठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास

के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों के सुनने के लिए, उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था ? दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था ! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता ? हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डण्ठलों की रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका 'अभी वह निकल गया।' मन-ही-मन कह रही थी—वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डण्ठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी।

उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका ?"—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—"इतने दिनों के बाद आज फिर !"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु......"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही, निर्वासित, कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका ! यह भी एक विडम्बना है ! तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

* * *

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम......"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण

के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

"नवीन राज्य। ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान के सिंहासन पर बिठाऊँगा! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—"आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—"तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?"

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगाकर, मैं तुम्हें इसी कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी?"

मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला, "क्या?"

"सत्य, मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वे अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो?"

"जो कहोगे वही करूँगी।"—मन्त्र-मुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

* * *

स्वर्ण-मञ्च पर कोशल-नरेश अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ट में धीरे-धीरे सञ्चलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है?"

"तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये! आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्ख! फिर क्या चाहिए?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके! यह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ?"

"सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ? तुम्हारी यह प्रार्थना......!"

"देव। जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रम-जीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य' को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

*　　　*　　　*

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-सञ्चार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर, पक्षी-गण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर और; विश्वास करो; प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!"

"भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिक से तुम..."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी।"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?"

"अवश्य। तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए; तब रात्रि भर के लिए बिदा, मधूलिके!"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रमः से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

* * *

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चली जाय? मगध कोशल का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या!" सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी! रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ

में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोक कर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे !"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो ! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली ! नहीं, यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहार में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

* * *

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल-राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथायें लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही

बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर, सेनापति राज-मन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वे अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चञ्चल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो, देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कुछ कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र

श्री प्रेमचन्द

असली नाम धनपतराय था। पर लेखन उन्होंने प्रेमचन्द के नाम से किया। बनारस के समीप एक कायस्थ घराने में १८८० ई० में जन्म। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। आठ वर्ष की अवस्था में माता तथा चौदह में पिता का देहान्त हुआ। नाना के खर्च तथा ट्यूशन से दसवें दर्जे तक पढ़े। १९२० के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकारी नौकरी छोड़कर देश-सेवा तथा साहित्य सेवा में लग गये।

प्रेमचन्द जी ने कहानी, उपन्यास, नाटक तथा कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। 'माधुरी' मासिक पत्रिका तथा 'जागरण' साप्ताहिक का सम्पादन किया। 'हंस' मासिक पत्र के आप जन्मदाता तथा आमरण सम्पादक रहे। अंग्रेजी के कुछ नाटकों तथा उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद तथा उर्दू के महाकाय 'फ़िसाने आज़ाद' का हिन्दी रूपान्तर 'आज़ाद-कथा' नाम से किया। आपकी कुछ कृतियों का भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, जापानी, चीनी, फ्रेंच, जर्मन, डच, चेक तथा रूसी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। कहा जाता है कि प्रेमचन्द की पहली कहानी हिन्दी में 'पंच परमेश्वर' १९१६ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी यद्यपि उर्दू में वे बहुत पहले से लिख रहे थे।

जलोदर रोग से पीड़ित होकर भाषा के एक आदर्श रूप का पथ-प्रदर्शक तथा उपन्यास-कहानी का उत्कृष्ट स्रष्टा यह अमर कलाकार ८ अक्तूबर १९३६ को इहलोक से बिदा हो गया।

रचनाएँ—बारह उपन्यास, लगभग २५० कहानियाँ, चार नाटक तथा अनेक बालोपयोगी पुस्तकें, अनुवाद, निबन्ध आदि।

सुजान-भगत

(१)

सीधे-साधे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। धनिक समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे। ऊसर में भी दाना छींट आता, तो कुछ-न-कुछ पैदा हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज़ था। कोई दो ढाई हज़ार हाथ में आ गए। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, कानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते, हल्के के हेड-कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफ़सर एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग! उनके द्वार अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उसका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते ज़बान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कण्ठ तले एक बूँद जाने की भी कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता, कहीं लोग

यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमण्ड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुएँ थे, बहुत से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कुआँ और बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गए। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया यात्रा करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देखकर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गम्भीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा कौन जानता है। धर्म के काम में मीन मेष निकालना अच्छा नहीं। जिन्दगानी का क्या भरोसा?

बुलाकी—हाथ खाली हो जायगा।

सुजान—भगवान की इच्छा होगी तो फिर रुपए आ जायँगे। उसके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डालकर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे, तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी।

सारी बिरादरी निमंत्रित हुई। ग्यारह गाँव में सुपारी बँटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते कि भगवान् धन दे तो दिल भी ऐसा ही दे। घमण्ड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था। कुल का नाम जगा दिया, बेटा हो तो ऐसा हो। बाप मरा तो घर में भूनी भाँग नहीं थी। अब लक्ष्मी घुटने तोड़ कर आ बैठी है।

एक द्वेषी ने कहा— कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। तो चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ तुम्हारे बाप-दादा जो खजाना छोड़ गये थे, वही उसके हाथ लग गया है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फ़सल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं; जो खर्च करना जानता है, उसी को देते हैं।

(२)

सुजान महतो सुजान-भगत हो गये। भगतों के आचार-विचार कुछ और ही होते हैं। भगत बिना स्नान किये कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर घर से दूर हो और वह रोज़ स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चा उसके लिए अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पड़ता है। सब से बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दंड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए क्षमा नहीं है, प्रायश्चित्त नहीं है, अगर है भी तो बहुत कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। जीवन का कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था, इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तोलता था। वह अब उन्हें औचित्य के काँटों पर तोलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत से निकालकर उसने चेतन जगत में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था, पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्मग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गौओं को दुहाते

समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुकदमों में उसने झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले को रफ़ा-दफ़ा करा दिया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके दो; पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजूरी की अधिक चिन्ता रहती थी—'कहीं बेचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय।' यह उसका सखुनतकिया-सा हो गया—'किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय।' उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उस पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आकर सुजान भगत कोरे भगत रह गये।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज़ बिकी, ऐसी महत्त्व-पूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला कर लिया करती। गाँव-भर में सुजान का मान-सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था। लड़के उसका सत्कार अब बहुत करते। उसे हाथ से चारपाई उठाते देख लपककर खुद उठा लेते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिए भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

(३)

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी कि एक भिखमंगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ तो

उसे कुछ दे दूँ। इतने में बड़ा लड़का भोला आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं। कुछ दे दो। नहीं, उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते ? क्या मेरे चार हाथ हैं ? किस-किस का रोयाँ सुखी करूँ, दिन भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हैं, और क्या ! अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से ७ मन हुए। तोला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाकी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो। दस-पाँच दफे मुँह की खायेंगे; तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन भर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफे कह दिया कि तुम घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो, पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरु-मंत्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन दुनिया दोनों से गये। सारा दिन पूजा-पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तो तुम्हारा कुन्याव है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं और भी जो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर में से

किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठकर अन्दर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे भर से खड़ा भीख माँग रहा है। अपना काम तो दिन भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो कर दिया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर भर भगवान् का काम करेगा ?

सुजान—कहाँ आटा रक्खा है, लाओ मैं ही निकाल कर दे आऊँ, तुम रानी बनकर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर कर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़चिरों के लिए पहर रात से उठकर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडारघर में गये और एक छोटी-सी छाबड़ी जौ से भरे हुए निकले, जो सेर भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर केवल बुलाकी और भोला को चिढ़ाने के लिए, भिक्षा-परम्परा का उल्लंघन किया था। तिस पर भी यह दिखाने के लिए कि छाबड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं है, वह उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण का विलम्ब होने से छाबड़ी के हाथ से छूट कर गिर पड़ने की सम्भावना थी। इसीलिए वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छाबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदलकर बोला—सैंत का माल नहीं है, जो लुटाने चले हो। छाती फाड़-फाड़कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसियाकर कहा—मैं भी तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख भीख की तरह दी जाती है, लुटाई नहीं जाती। हम तो एक वेला खाकर दिन काटते हैं कि इज्जत बनी रहे और तुम्हें लुटाने की सूझती है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है !

सुजान ने इसका कोई जवाब न दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ, किसी का हाथी खाली नहीं है।

और स्वयं पेड़ के नीचे बैठकर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर! अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ-पाँव थके नहीं हैं, घर का कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर! उसी ने यह घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है, पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घरवाले जो रूखा-सूखा दे दें वह खाकर पेट भर लिया करे! ऐसे जीवन को धिक्कार है। सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

सन्ध्या हो गई थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भरकर लाया। सुजान ने नारियल दीवाल से टिकाकर रख दिया। धरे-धरे तम्बाकू जल गया। ज़रा देर में भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुजरी। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते? जी तो अच्छा है?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी ही पर था। यह भी लड़कों के साथ है! यह बैठी देखती रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं, ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अँधेरी रातों में मड़ैया लगाये जुआर की रखवाली करता था, जेठ बैसाख की दोपहरी में भी दम न लेता था, और अब मेरा घर पर इतना अधिकार भी नहीं है कि भीख तक दे सकूँ? माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती, लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिये था; चाहे मैं घर में आग ही क्यों न लगा देता! कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ;

इसमें किसी के बाप का क्या साझा? अब इस वक्त मनाने आई है! इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों; कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपए-पैसे, लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रक्खा था। अब रुपये जमा कर लिए हैं, तो मुझी से घमंड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घर-फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवाह। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद में उठाकर वैद्य के घर ले गया था। आज इसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—मैं अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिलाकर दाने को क्यों खराब करोगी। रख दो, बेटे दूसरी बार खाएँगे।

बुलाकी—तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना ही कहकर रह गया। तुम्हें तो मज़ा आता, जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों? अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं, भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो दो-चार हाथ। इतनी कसर है; वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ और क्या, यह तो नारी का धर्म ही है। अपने भाग सराहो कि मुझ जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहज़ोर होती तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई, वह तो मैं ही कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी-सी न कहोगी तो क्या मेरी-सी कहोगी; मुझसे अब क्या लेना-देना है।

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठो हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे ! चलकर खाना खा लो सीधे से नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी ।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटों की तो कमाई है; हाँ मैं बाहरी आदमी हूँ ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी हैं ।

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज़ आया । किसी और के बेटे होंगे । मेरे बेटे होते तो क्या मेरी यह दुर्गति होती ?

बुलाकी—गालियाँ दोगे तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी । सुनती थी, मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम तो सबसे न्यारे हो । आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे, वैसा काम करे । अब हमारा और तुम्हारा निर्वाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें, जो लड़कों को अच्छा लगे । मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते ? जो कमाता है उसी का घर में राज होता है; यही दुनिया का दस्तूर है । मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती; तुम क्यों अपने मन की करते हो ? इतने दिनों तो राज कर लिया; अब क्यों इस माया में पड़े हो ? चलो, खाना खा लो ।

सुजान—तो अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ ?

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी; अब अपने को जो चाहे समझो ।

सुजान न उठे । बुलाकी हारकर चली गई ।

(४)

सुजान के सामने अब एक नई समस्या खड़ी हो गई थी । वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था । परिस्थिति में कितना उलट-फेर हो गया था इसकी उसे खबर न थी । लड़के उसका सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुए

थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृहस्वामी होने का प्रमाण न था? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं, उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मन्दिर का पुजारी बनकर वह नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठकर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करबी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिए हाय-हाय पड़ी रहती थी। शंकर भी काटता था, भोला भी काटता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देगा कि चारा कैसे काटना चाहिए। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया। और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानो साँचे में ढाले गये हों।

मुँह-अँधेरे बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात भर कटिया ही काटता रह गया? कितना कहा कि बेटा, जी से जहान है, पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है? जब देखता हूँ, काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा?

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्मा?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सवेरे उठ ही नहीं पाता। दिन भर चाहे जितना काम कर लूँ, पर रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है?

भोला—हाँ, मालूम तो होता है। रात-भर सोये नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे! वह तो हल लेकर जा रहे हैं? जान देने पर उतारू हो गये हैं क्या?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं भी जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ हल लेकर भोला खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से काम करना शुरू किया। सुजान से कुछ बोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी। दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिये। पर सुजान-भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे। मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं!

आखिर डरते-डरते बोला—दादा, अब तो दोपहर हो गयी, हल खोल दें न?

सुजान—हाँ, खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मैं डाँड़ फेंक कर आता हूँ।

भोला—मैं संझा को फेंक दूँगा।

सुमन—तुम क्या फेंक दोगे! देखते नहीं हो, खेत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है। इसी गोइँड़ के खेत में बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानाश कर दिया।

बैल खोल दिये गये। भोला बैलों को लेकर घर चला, पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आध घंटे के बाद डाँड़ फेंककर वह घर आये। मगर थकान का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सहलाई। बैलों की पूँछ खड़ी थी। सुजान की गोद में सिर रक्खे उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनन्द प्राप्त हुआ था। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानो वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे; मानो उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिये जाते देखा; पर उठ न सका, उसकी हिम्मत छूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनाई गिरस्ती मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धंधे होते हैं! हँसने-बोलने के लिए, गाने-बजाने के लिए उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा? किसी गाँव में बरात आई है; नाच-गाना हो रहा है। जवान आदमी क्यों उसके आनन्द से वंचित रह सकता है? वृद्धजनों के लिए ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब; न खेल-तमाशे से गरज; केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गये।

भोला—जाने दो अम्मा; मुझसे तो यह नहीं हो सकता।

(५)

—सुजान-भगत के इस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं ! निकल गई सारी भगती ! बना हुआ था ! माया में फँसा हुआ है ! आदमी काहे को है, भूत है ।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-संत आसन जमाये देखे जाते ।—उनका आदर-सम्मान होता है । अबकी उसकी खेती ने सोना उगल दिया है । बखारी में अनाज रखने को जगह नहीं मिलती । जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अबकी बार दस मन की उपज हुई है ।

चैत का महीना था । खलिहानों में सतयुग का राज था । जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे । यही समय हैं, जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिए अपना जीवन सफल मालूम होता है; जब गर्व से उनका हृदय उछलने लगता है । सुजान भगत टोकरों में अनाज भर-भरकर देते थे और दोनों लड़के टोकरे लेकर घर में अनाज रख आते थे । कितने ही भाट और भिक्षुक भगतजी को घेरे हुए थे । उनमें वह भिक्षुक भी था, जो आज से आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था ।

सहसा भगत ने उस भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-कहाँ चक्कर लगा आये ?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगतजी, पहले तुम्हारे ही पास आया हूँ ।

भगत—अच्छा, तुम्हारे सामने यह ढेर है । इसमें से जितना अनाज उठाकर ले जा सको, ले जाओ ।

भिक्षुक ने लुब्ध नेत्रों से ढेर को देखकर कहा—जितना अपने हाथ से उठाकर दे दोगे, उतना ही लूँगा ।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके, उठा लो ।

भिक्षुक के पास एक चादर थी । उसने कोई दस सेर अनाज उसमें

भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत उसके मन का भाव समझकर आश्वासन देते हुए बोला—बस! इतना तो बच्चा उठा ले जायगा।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देखकर कहा—मेरे लिए इतना बहुत है।

भगत—नहीं, तुम सकुचाते हो, अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पंसेरी अनाज और भरा और फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो बाबा जी, मैं जो कहता हूँ वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी न उठाने दी, तो कितनी भद्द होगी और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है! उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँधकर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा, इतना तो मुझसे उठ न सकेगा।

भगत—अरे! इतना भी न उठ सकेगा! बहुत होगा, तो मन भर। भला ज़ोर तो लगाओ, देखूँ, उठा सकते हो या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी को आज़माया। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला—भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत—अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा?

भगत—अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने ज़ोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर

रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिए। देखनेवाले भगत का यह पौरुष देख-कर चकित हो गये। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा है। आठ महीने के निरन्तर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार फिर पाया था। वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो तो जवान है। जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पावे।

भोला सिर झुकाये खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

सुजान भगत

मुंशी प्रेमचन्द के महत्त्व और उनकी समस्त कृतियों का जिसे पूरा परिचय प्राप्त हो, उसके लिए यह सरलता से संभव नहीं हो सकता कि वह निर्णय कर दे कि उनकी कौन-कौन-सी कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। कुछ लोगों ने इसका प्रयास किया है पर सफलता कितनी मिल सकी है इसका निर्णय विशेषज्ञ ही कर सकता है। उनकी लिखी प्रायः पाँच सौ कहानियाँ हैं। विषय और पद्धति के आधार पर इनका समुचित वर्गीकरण आज तक नहीं हो सका—और यह बात है नितान्त आवश्यक। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि विषय-प्रसार की दृष्टि से आज तक हिन्दी में इतना किसी ने नहीं लिखा। उनकी कहानियों में विषय की विविधता को देखकर आश्चर्य होता है। जीवन और जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले विचार और परिस्थिति की कोई मार्मिक बात न बची होगी, जिस पर उनकी लेखनी न चली हो।

स्थिति इतनी गहन होने पर भी यदि उनके विषयों का साधारणतः अध्ययन किया जाय तो एक बात तो साफ दिखाई पड़ेगी। ग्रामनिवासी कृषकवर्ग के अध्ययन, चित्रण और उद्घाटन में प्रेमचन्दजी का अधिक समय और श्रम लगा था। समाज के इस क्षेत्र के तो वे सच्चे प्रतिनिधि थे। कृषक के व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक और सामूहिक स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके जीवन का प्रधान कार्य था। उनकी आकांक्षा थी कि इस ओर जगत् का रागात्मक आकर्षण उत्पन्न हो। यही कारण है कि उपन्यासों से लेकर कहानियों तक एकरस और एकचित होकर उन्होंने ग्राम-कृषक के जीवन की विवृति इतने स्वच्छ रूप में उपस्थित की थी। प्रस्तुत कहानी में इसी विवृति का एक कण है।

बेचारे कृषक की स्थिति अपने कुटुम्ब में इतनी दुर्बल होती है कि

जब तक निरन्तर मरता-खपता सोना पैदा करता रहे तब तक तो राजपद भोगे, नहीं तो पत्नी-पुत्र तक उसकी अवमानना करने लगते हैं। 'सुजान-भगत' ने यही अनुभव किया। 'वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है वह बूढ़ा भी हो तो जवान है।' यही उनकी अनुभूतियों का मर्म और कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। साथ में सामान्य कृषक कुटुम्ब की एक साधारण घटना है और उसकी अपनी कुछ परिस्थितियाँ हैं। कहानी में सुजान-भगत का चरित्र स्पृहणीय है।

सुदर्शन

आप स्यालकोट (पश्चिमी पंजाब) के रहनेवाले हैं। आपका जन्म १८९५ का है। पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिन्दी में भी लिखने लगे। आपकी सब से पहली रचना १९१९ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। आपकी सबसे पहली पुस्तक 'पुष्प-लता' १९२० में और दूसरी रचना 'अंजना' भी १९२० में छपी। आपकी भाषा बड़ी सरल है। उर्दू में लिखते हैं, तो फ़ारसी और अरबी से बचते हैं, हिन्दी में लिखते हैं, तो संस्कृत के मोटे-मोटे और अप्रसिद्ध शब्दों से भागते हैं। आपकी शैली इतनी सुन्दर है, कि जो देखता है, मुग्ध हो जाता है। इसमें बहाव बहुत रहता है। आदमी को पढ़ने के लिए यत्न नहीं करना पड़ता। आदमी उसमें बहता चला जाता है। 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ यात्रा' 'चार कहानियाँ', 'पनघट', 'नगीना', 'अंजना', 'भाग्यचक्र', 'सिकन्दर', 'झरोखे', 'झंकार', 'दिल के तार' आपकी खास-खास पुस्तकें हैं। आपने कई पुस्तकें बच्चों के लिए भी लिखी हैं। आज-कल आप बम्बई में हैं, और सिनेमा के लिए लिखते हैं। आपकी आयु पचपन वर्ष के लगभग है।

अलबम

(१)

पंडित शादीराम ने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा ?

वह निर्धन थे, परन्तु दिल के बुरे न थे। वह चाहते थे कि चाहे जिस प्रकार भी हो, अपने यजमान—लाला सदानन्द—का रुपया अदा कर दें। उनके लिए एक-एक पैसा मोहर के समान था। अपना पेट काट कर बचाते थे, परन्तु जब चार पैसे इकट्ठे हो जाते, तो कोई ऐसा खर्च निकल आता कि सारा रुपया उड़ जाता। शादीराम के हृदय पर बर्छियाँ चल जातीं थीं। उनका वही हाल होता था, जो उस डूबते हुए मनुष्य का होता है, जो हाथ-पाँव मारकर किनारे पहुँचे, और किनारा टूट जाये। उस समय उसकी दशा कैसी करुणा-जनक, कैसी हृदय-वेधक होती है ? वह प्रारब्ध को गालियाँ देने लगता है। यही दशा शादीराम की थी।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये, शादीराम ने पैसा-पैसा बचा कर अस्सी रुपये जोड़ लिये। उन्हें लाला सदानन्द के पाँच सौ रुपये देने थे। इस अस्सी रुपये की रकम से ऋण उतरने का समय निकट आता प्रतीत हुआ। आशा धोखा दे रही थी। एकाएक उनका छोटा लड़का बीमार हुआ, और लगातार चार महीने बीमार रहा। पैसा-पैसा करके बचाये हुए रुपये दवा-दारू में उड़ गये। पंडित शादीराम ने सिर पीट लिया। अब चारों ओर फिर अन्धकार था। उसमें प्रकाश की हलकी-सी किरण भी दिखाई न देती थी। उन्होंने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा ?

लाला सदानन्द अपने पुरोहित की विवशता को जानते थे, और यह न चाहते थे कि वह रुपये देने का प्रयत्न करें। उन्हें इस रकम की रत्ती-भर भी परवा न थी। उन्होंने इसके लिए कभी तगादा तक भी नहीं किया, न कभी शादीराम से इस विषय की बात छेड़ी। इस बात से वह इतना डरते थे, मानो रुपये स्वयं उन्हीं को देने हों। परन्तु शादीराम के हृदय में शान्ति न थी। प्रायः सोचा करते थे कि यह कैसे भलेमानस हैं, जो अपनी रकम के बारे में मुझसे बात तक नहीं करते? खैर, यह कुछ नहीं करते, सो ठीक है; परन्तु इसका तात्पर्य यह थोड़े ही है कि मैं भी निश्चिन्त हो जाऊँ।

उन्हें लाला सदानन्द के सामने सिर उठाने का साहस न था। उसे ऋण के बोझ से नीचे झुका दिया था। यदि लाला सदानन्द ऐसी सज्जनता न दिखलाते, और शादीराम को बार-बार तगादा करके तंग करते, तो उन्हें ऐसा मानसिक कष्ट न होता। हम अत्याचार का सामना सिर उठाकर कर सकते हैं; परन्तु भलमनसी के सामने आँखें नहीं उठतीं।

एक दिन लाला सदानन्द किसी काम से पंडित शादीराम के घर गये, और उनकी आल्मारी में कई सौ बँगला, हिन्दी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं की मासिक पत्रिकाएं देखकर बोले—"यह क्या है?"

पंडित शादीराम ने पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेदते हुए उत्तर दिया—"पुरानी पत्रिकाएं हैं। बड़े भाई को पढ़ने का बड़ा चाव था, वह प्रायः मँगवाते रहते थे, जब जीते थे, तो किसी को हाथ न लगाने देते थे। अब इन्हें कोड़े खा रहे हैं।"

"रद्दी में क्यों नहीं बेच देते?"

"इनमें चित्र हैं। जब कभी बच्चे रोने लगते हैं, तो एक-आध निकाल कर दे देता हूँ। इससे उनके आँसू थम जाते हैं।"

लाला सदानन्द ने आगे बढ़कर कहा—"दो-चार परचे दिखाओ तो।"

पंडित शादीराम ने कुछ परचे दिखाये। हरएक परचे में कई-कई सुन्दर और रंगीन चित्र थे। लाला सदनलाल कुछ देर तक उलट-पुलट-कर देखते रहे। सहसा उनके हृदय में एक विचित्र विचार उठा। चौंक-कर बोले—"पंडितजी !"

"कहिए।"

"ये चित्र कला-सौंदर्य के अति उत्तम नमूने हैं। अगर किसी शौकीन को पसन्द आ जायँ, तो हज़ार दो हज़ार रुपये कमा लो।"

पण्डित शादीराम ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा—

"ऐसे भाग्य होते, तो यों धक्के न खाता फिरता।"

लाला सदानन्द बोले—"एक काम करो।"

"क्या ?"

"आज बैठकर इन पत्रिकाओं में जितनी अच्छी-अच्छी तसवीरें हैं, सबको छाँटकर अलग कर लो।"

"बहुत अच्छा।"

"जब यह कर चुको, तो मुझे पता देना।"

"आप क्या करेंगे ?"

"मैं इनका अलबम बनाऊँगा, और तुम्हारी ओर से विज्ञापन दे दूँगा। सम्भव है, यह विज्ञापन किसी शौकीन के हाथ पड़ जाय, और तुम चार पैसे कमा लो।"

(२)

पण्डित शादीराम को यह आशा न थी कि कोयलों में हीरा मिल जायगा। घोर निराशा ने आशा के द्वार चारों ओर से बन्द कर दिये थे। वह उन हत-भाग्य मनुष्यों में से थे, जो संसार में असफल और केवल असफल रहने के लिए उत्पन्न होते है। सोने को हाथ लगाते थे, तो वह भी मिट्टी हो जाता था। उनकी ऐसी धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास था कि यह प्रयत्न भी कभी सफल न होगा। परन्तु लाला

सदानन्द के आग्रह से दिनभर बैठकर तस्वीरें छाँटते रहे। न मन में लगन थी, न हृदय में चाव। परन्तु लाला सदानन्द की बात को टाल न सके। शाम को देखा, दो सौ एक-से-एक बढ़िया चित्र हैं। उस समय वह उन्हें देखकर स्वयं उछल पड़े। उनके मुख पर आनन्द की आभा नृत्य करने लगी। जैसे फेल हो जाने का विश्वास करके अपनी प्रारब्ध पर रो चुके विद्यार्थी को पास हो जाने का तार मिल गया हो। उस समय वह कैसा प्रसन्न होता है? चारों ओर कैसी विस्मित और प्रफुल्लित दृष्टि से देखता है? यही अवस्था पण्डित शादीराम की थी। वह उन चित्रों की ओर इस प्रकार देखते थे, मानो उनमें से प्रत्येक दस-दस रुपये का नोट हो। बच्चों को उधर देखने न देते थे। वह सफलता के विचार से ऐसे प्रसन्न हो रहे थे, जैसे सफलता प्राप्त हो चुकी हो, यद्यपि वह अभी कोसों दूर थी। लाला सदानन्द की आशा उनके मस्तिष्क में निश्चय का रूप धारण कर चुकी थी।

लाला सदानन्द ने चित्रों को अलबम में लगवाया, और कुछ उच्च कोटि के समाचार-पत्रों में विज्ञापन दे दिया। अब पण्डित शादीराम हर समय डाकिये की प्रतीक्षा करते रहते थे। रोज़ सोचते कि आज कोई चिट्ठी आवेगी। दिन बीता जाता, और कोई उत्तर न आता था। रात को आशा सड़क की धूल की तरह बैठ जाती थी। परन्तु दूसरे दिन लाला सदानन्द की बातों से टूटी हुई आशा फिर बँध जाती थी, जिस प्रकार गाड़ियाँ चलने से पहले दिन की बैठी हुई धूल हवा में उड़ने लगती है। आशा फिर अपना चमकता हुआ मुख दिखाकर दरवाज़े पर खड़ा कर देती थी। डाक का समय होता, तो बाजार में ले जाती, और वहाँ से डाकखाने पहुँचाती थी। इसी प्रकार एक महीना बीत गया, परन्तु कोई पत्र न आया। पण्डित शादीराम सर्वथा निराश हो गये। परन्तु फिर भी कभी-कभी सफलता का विचार आ जाता था, जिस प्रकार अँधेरे में जुगनू चमक जाता है। यह जुगनू की चमक निराश हृदयों

के लिए कैसी जीवनदायिनी, कैसी हृदयहारिणी होती है ! इसके सहारे भूले हुए पथिक मंज़िल पर पहुँचने का प्रयत्न करते और कुछ देर के लिए अपना दुःख भूल जाते हैं। इस झूठी आशा के अन्दर सच्चा प्रकाश नहीं होता; परन्तु यह दूर के संगीत के समान मनोहर अवश्य होती है। इसमें वर्षा की नमी हो या न हो, परन्तु इससे काली घटा का जादू कौन छीन सकता है ?

आखिर एक दिन शादीराम के भाग्य जागे। कलकत्ते के एक मारवाड़ी सेठ ने पत्र लिखा कि अलबम भेज दो, यदि पसन्द आ गया, तो खरीद लिया जायगा। मूल्य की कोई चिन्ता नहीं, चीज़ अच्छी होनी चाहिए। यह पत्र उस करवट के समान था, जो सोया हुआ मनुष्य जागने से पहले बदलता है और उसके पश्चात् उठकर बिस्तरे पर बैठ जाता है। यह किसी पुरुष की करवट न थी, किसी स्त्री की करवट न थी, यह भाग्य की करवट थी। पण्डित शादीराम दौड़े हुए लाला सदानन्द के पास पहुँचे, और उन्हें पत्र दिखाकर बोले—"भेज दूँ ?"

लाला सदानन्द ने पत्र को अच्छी तरह देखा, और उत्तर दिया—"रजिस्टर्ड कराकर भेज दो। शौकीन आदमी है, खरीद लेगा।"

"और मूल्य ?"

"लिख दो, एक हज़ार रुपये से कम पर सौदा न होगा।"

कुछ दिन बाद उन्हें उत्तर में एक बीमा मिला। पण्डित शादीराम के हाथ-पैर काँपने लगे। परन्तु हाथ-पैरों से अधिक उनका हृदय काँप रहा था। उन्होंने जल्दी से लिफ़ाफ़ा खोला, और उछल पड़े। उसमें सौ-सौ रुपये के दस नोट थे। पहले उनके भाग्य ने करवट बदली थी, अब वह पूर्णरूप से जाग उठा। पण्डित शादीराम खड़े थे, बैठ गये। सोचने लगे—अगर दो हज़ार रुपये लिख देता, तो शायद उतने ही मिल जाते। इस विचार ने उनकी सारी प्रसन्नता किरकिरी कर दी।

(३)

सायँकाल के समय वह लाला सदानन्द के पास गये, और पाँच सौ रुपये के नोट सामने रखकर बोले—"परमात्मा को धन्यवाद है कि मुझे इस भार से छुटकारा मिला। अपने रुपये सँभाल लीजिए। आपने जो दया और सज्जनता दिखलाई है, उसे मैं मरण-पर्यन्त न भूलूँगा।"

लाला सदानन्द ने विस्मित-से होकर पूछा—"पण्डितजी! क्या सेठ ने अलबम खरीद लिया?"

"जी हाँ, रुपये भी आ गये।"

"एक हज़ार?"

"जी हाँ। नहीं तो मुझ निर्धन ब्राह्मण के पास क्या था, जो आपका ऋण चुका देता, परमात्मा ने मेरी सुन ली।"

"मैं पहले भी कहना चाहता था; परन्तु कहते हुए हिचकिचाता था कि आपके हृदय को कहीं ठेस न पहुँचे। पर अब मुझे यह भय नहीं है; क्योंकि रुपये आपके हाथ में हैं। मेरा विचार है कि आप ये रुपये अपने ही पास रक्खें। मैं आपका यजमान हूँ। मेरा धर्म है कि आपकी सेवा करूँ।"

पण्डितजी की आँखों में आँसू आ गये, दुपट्टे से पोंछते हुए बोले—"आप-जैसे सज्जन संसार में बहुत थोड़े हैं। परमात्मा आपको चिर-जीवी रक्खें। परन्तु अब तो मैं ये रुपये न लूँगा। इतने वर्ष आपने माँगे तक नहीं, यह उपकार कोई थोड़ा नहीं है। मुझे इससे उऋण होने दीजिए। ये पाँच सौ रुपये देकर मैं हृदय की शान्ति खरीद लूँगा।"

निर्धन ब्राह्मण की यह उदारता और सच्चरित्रता देखकर सदानन्द का मनमयूर नाचने लगा। उन्होंने नोट ले लिये। मनुष्य रुपये देकर भी ऐसा प्रसन्न हो सकता है, इसका अनुभव उन्हें पहली ही बार हुआ।

पण्डितज़ी के चले जाने पर उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं, और किसी विचार में मग्न हो गये। इस समय उनके मुख-मंडल पर एक विशेष आत्मिक तेज था।

(४)

छः मास बीत गये।

लाला सदानन्द बीमार थे। ऐसे बीमार वह सारी आयु में न हुए थे। पण्डित शादीराम उनके लिए दिन-रात माला फेरा करते थे। वह वैद्य न थे, डॉक्टर न थे। वह ब्राह्मण थे, उनकी औषधि माला फेरना ही थी, और यह काम वह अपनी आत्मा की पूरी शक्ति, अपने मन की पूरी श्रद्धा से करते थे। उन्हें औषधि की अपेक्षा आशीर्वाद और प्रार्थना पर अधिक भरोसा था।

एक दिन लाला सदानन्द चारपाई पर लेटे थे। उनके पास उनकी बूढ़ी माँ उनके दुर्बल और पीले मुख को देख-देखकर अपनी आँखों के आँसू अन्दर-ही-अन्दर पी रही थी। थोड़ी दूर पर, एक कोने में, उनकी नवोढ़ा स्त्री घूँघट निकाले खड़ी थी, और देख रही थी कि कोई काम ऐसा तो नहीं, जो रह गया हो। पास पड़ी हुई एक चौकी पर पण्डित शादीराम बैठे रोगी को भगवद्गीता सुना रहे थे।

एकाएक लाला सदानन्द बेसुध हो गये।

पण्डितजी ने गीता छोड़ दी, और उठकर उनके सिरहाने बैठ गये। स्त्री गर्म दूध लेने के लिए बाहर दौड़ी, और माँ अपने बेटे को घबराकर आवाज़ें देने लगी। इस समय पण्डितजी को रोगी के सिरहाने के नीचे कोई कड़ी-सी चीज़ चुभती हुई जान पड़ी। उन्होंने नीचे हाथ डालकर देखा, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही! यह सख्त चीज़ वही अलबम था, जिसे किसी सेठ ने नहीं, बल्कि स्वयं लाला सदानन्द ने खरीद लिया था।

पण्डित शादीराम इस विचार से बहुत प्रसन्न थे कि उन्होंने सदानन्द

का ऋण उतार दिया है। परन्तु यह जानकार उनके हृदय पर चोट-सी लगी कि ऋण उतरा नहीं, बल्कि पहले से दूना हो गया है।

उन्होंने अपने बेसुध यजमान के पास बैठे-बैठे एक ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—"क्या यह ऋण कभी न उतरेगा?"

कुछ देर के बाद लाला सदानन्द को होश आया। उन्होंने पण्डित-जी से अलबम छीन लिया, और धीरे से कहा—"यह अलबम सेठ साहब से अब मैंने मँगवा लिया है।"

पण्डितजी जानते थे कि यजमानजी झूठ बोल रहे हैं। परन्तु वह उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक सज्जन, अधिक उपकारी और अधिक ऊँचा समझने लगे थे।

अलबम

हिन्दी के कहानी-लेखकों में श्री सुदर्शन जी बड़े ही यशस्वी हैं। दैनिक और पारिवारिक जीवन की सहज और सामान्य अनुभूतियों के मार्मिक चित्रण में इनकी विशेष पटुता दिखाई पड़ती है। साथ ही भाषा विषयक सफाई और कथानक सम्बन्धी ऋजुता भी इनमें अच्छी मिलती है। सामाजिक समस्याओं का समाधान हमारे जीवन में किस प्रकार सरलता से ढाला जा सकता है इसका व्यावहारिक संकेत इनकी विभिन्न कहानियों में सफलता के साथ दिया गया है। इस प्रकार इन्हें हम सुधारक रूप में भी ले सकते हैं, इस सुधार-भाव में कला का आवरण कलात्मक ढङ्ग से वर्तमान रहता है।

'अलबम' में दो साधु वृत्तियों का अच्छा संघर्ष दिखाया गया है। दाता और याचक अथवा कर्ज देने और लेनेवाले की कोमलता और कर्तव्यनिष्ठा का व्यावहारिक संतुलन किया गया है। पं० शादीराम में कर्ज अदा करने की धर्ममूलक आकांक्षा और तत्परता दिखाई गई है। लाला सदानन्द में ममत्वपूर्ण करुणाशीलता का अच्छा स्फुरण चित्रित हुआ है। तुलसीदास के चातक और मेघ की भांति दोनों अपने-अपने पक्ष के गौरवपूर्ण निर्वाह में लगे दिखाई पड़ते हैं। चारित्र्योद्घाटन ही कहानी का मूल विषय है। इसमें इतिवृत्त का सीधापन तो है ही साथ ही दो प्रकार की मनोवृत्तियों का तारतम्य भी सुन्दरतापूर्वक निरूपित किया गया है।

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

अम्बाला छावनी के एक साधारण गृहस्थ के यहाँ उत्पन्न होकर चार वर्ष की अवस्था में अपने एक निस्सन्तान बाबा के दत्तक पुत्र होकर कानपुर आये। स्कूली शिक्षा मैट्रिक तक ही रहने पर भी फारसी, उर्दू, हिन्दी एवं संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। पहले उर्दू में 'राग़िब' तखल्लस से शायरी करते थे, पर स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिन्दी में आये और पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' १९१२ में सरस्वती में प्रकाशित हुई। प्रयाग के 'भविष्य' तथा 'चाँद' में दुबेजी का चिट्ठी स्तम्भ में हास्य भी लिखते थे। एक बंगला उपन्यास तथा नाटक का अनुवाद किया। दो उपन्यास, चार कहानी-संग्रह और एक नाटक लिखा। इनके लिखे उपन्यास 'भिखारिणी' और 'माँ' है। कहानियों के संग्रहों में 'चित्रशाला' और 'पेरिस की नर्तकी' प्रमुख हैं।

अशिक्षित का हृदय

(१)

बूढ़ा मनोहरसिंह विनीत भाव से बोला—"सरकार, अभी तो मेरे पास रुपये हैं नहीं; होते, तो दे देता। ऋण का पाप तो देने ही से कटेगा। फिर, आपके रुपये को कोई जोखिम नहीं। मेरा नीम का पेड़ गिरवी धरा हुआ है। वह पेड़ कुछ न होगा, तो पचीस-तीस रुपये का होगा। इतना पुराना पेड़ गाँव-भर में दूसरा नहीं।"

ठाकुर शिवपालसिंह बोले—"डेढ़ साल का ब्याज मिलाकर कुल पचीस रुपये होते हैं। यह रुपया अदा कर दो, नहीं तो हम तुम्हारा पेड़ कटवा लेंगे।"

मनोहरसिंह कुछ घबराकर बोला—"अरे सरकार, ऐसा अन्धेर न कीजिएगा, पेड़ न कटवाइएगा। रुपया मैं दे ही दूँगा, यदि न भी दे सकूँ, तो पेड़ आपका हो जायगा। पर मेरे ऊपर इतनी दया कीजिएगा कि उसे कटवाइएगा नहीं।"

ठाकुर शिवपालसिंह मुसकिराकर बोले—"मनोहर, सठिया गये हो; तभी तो ऐसी ऊल-जलूल बातें करते हो। भला जो पेड़ कटाया न जायगा, तो हमारे रुपये कैसे निकलेंगे?"

मनोहरसिंह बोला—"अन्नदाता, आप के रुपये तो जहाँ तक होगा, मैं दे ही दूँगा।"

ठाकुर—"अच्छा, अब ठीक-ठीक बताओ कि रुपये कब तक दे दोगे।"

मनोहर कुछ देर सोचकर बोला—"एक सप्ताह में अवश्य दे दूँगा।"

ठाकुर—"अच्छा स्वीकार है। एक सप्ताह में दे देना, नहीं तो

फिर पेड़ हमारा हो जायगा। हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगे—चाहे कटावेंगे, चाहे रक्खेंगे।"

मनोहर—"और चाहे जो कीजिएगा, उसे कटवाइएगा नहीं, इतनी आप से प्रार्थना है।"

ठाकुर—"ख़ैर, हमारा जो जी चाहेगा करेंगे; तुम्हें फिर कुछ कहने का अधिकार नहीं रहेगा।"

(२)

मनोहरसिंह की आयु ५५ वर्ष के लगभग है। अपनी जवानी उसने फ़ौज में व्यतीत की थी। इस समय वह संसार में अकेला है। उसके परिवार में कोई नहीं। गाँव में दो-एक दूर के रिश्तेदार रहते हैं, उन्हीं के यहाँ अपना भोजन बनवा लेता है। न कहीं आता है, न जाता है। दिन-रात अपने टूटे-फूटे मकान में पड़ा ईश्वर-भजन किया करता है।

एक वर्ष पूर्व उसे कुछ खेती कराने की सनक सवार हुई थी। उसने ठाकुर शिवपालसिंह की कुछ भूमि लगान पर लेकर खेती कराई भी थी। पर उसके दुर्भाग्य से उस साल अनावृष्टि के कारण कुछ पैदावार न हुई। ठाकुर शिवपालसिंह का लगान न पहुँचा। मनोहरसिंह को जो कुछ पेंशन मिलती थी, वह उसके भोजन-वस्त्र-भर ही को होती थी। अन्त में जब ठाकुर साहब को लगान न मिला, तो उन्होंने उसका एक नीम का वृक्ष, जो उसकी झोपड़ी के द्वार पर लगा था, गिरवीं रख लिया। यह नीम का वृक्ष बहुत पुराना और उसके पिता कि हाथ का लगाया हुआ था।

मनोहरसिंह को एक सप्ताह का अवकाश दिया गया। उसने बहुत कुछ दौड़-धूप की, दो-चार आदमियों से कर्ज माँगा; पर किसी ने उसे रुपये न दिये। लोगों ने सोचा, वृद्ध आदमी है, न-जाने कब ढुलक जाय। ऐसी दशा में रुपया किससे वसूल होगा? मनोहर चारों ओर से हताश

होकर बैठ रहा, और धड़कते हुए हृदय से सप्ताह व्यतीत होने की राह देखने लगा।

दोपहर का समय है। मनोहरसिंह एक चारपाई पर नीम के नीचे लेटा हुआ है। नीम की शीतल वायु के झोंकों से उसे बड़ा सुख मिल रहा है। वह पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि परसों तक यदि रुपये न पहुँचेंगे, तो ठाकुर साहब इस पेड़ को कटवा डालेंगे। यह पेड़ मेरे पिता के हाथ का लगाया हुआ है। मुझे और मेरे परिवार को दतून और छाया देता रहा है। इसको ठाकुर साहब कटवा डालेंगे!

यह विचार मनोहरसिंह को ऐसा दुखदायी प्रतीत हुआ कि वह चारपाई पर उठकर बैठ गया, और वृक्ष की ओर मुँह करके बोला—"यदि संसार में किसी ने मेरा साथ दिया है, तो तूने। यदि संसार में किसी ने निःस्वार्थ भाव से मेरी सेवा की है, तो तूने। अब मेरी आँखों के आगे वह दृश्य आ जाता है, जब मेरे पिता तुझे सींचा करते थे। तू उस समय बिलकुल बचा था। मैं तेरे लिए तालाब से पानी भरकर लाया करता था। पिता कहा करते थे—"बेटा मनोहर, यह मेरे हाथ की निशानी है। इससे जब-जब तुझे और बाल-बच्चों को सुख पहुँचेगा, तब-तब मेरी याद आवेगी।" पिता का देहान्त हुए चालीस वर्ष व्यतीत हो गये। उनके कहने के अनुसार, तू सदैव उनकी कीर्ति का स्मरण कराता रहा; और जब तक रहेगा, उनकी याद दिलाता रहेगा। मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है, जब मैं अपने मित्रों-सहित तेरी डालियों पर चढ़कर खेला करता था। इस समय संसार में तू ही एक मेरा पुराना मित्र है। तुझे वह दुष्ट काटना चाहता है। हाँ, काटेगा क्यों नहीं। देखूँ कैसे काटता है!"

उसी समय इधर से एक पन्द्रह-सोलह वर्ष का लड़का निकला। वृद्ध मनोहर को बड़बड़ाते देख उसने पूछा—"चाचा, किससे बातें करते हो? यहाँ तो कोई है भी नहीं।"

बुड्ढे ने चौंककर लड़के की ओर देखा, और कहा—"क्या कहूँ बेटा तेजा, अपने कर्म से बातें कर रहा हूँ। ठाकुर शिवपालसिंह के मुख्तार कुछ रुपये चाहिये। तुझे तो बेटा मालूम ही है कि परसाल खेतों में एक दाना भी नहीं हुआ। होता, तो क्या मैं उनका लगान रख लेता? अब वह कहते हैं, लगान के रुपये दो, नहीं पेड़ कटवा लेंगे। इस पेड़ को कटवा लेंगे, जो मेरे बाप के हाथ का लगाया हुआ है। यह बात तो देखो। समय का फेर है, जो आज ऐसी-ऐसी बातें सुननी पड़ती हैं। बेटा, मैंने सारी उमर फौज में बिताई है। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ और मैदान देखे हैं। यह बेचारे हैं किस खेत की मूली? आज शरीर में बल होता, तो इनकी मजाल थी कि मेरे पेड़ के लिए ऐसा कहते। मुँह नोच लेता! मैंने कभी नाक पर मक्खी नहीं बैठने दी। बड़े-बड़े साहब बहादुरों से लड़ पड़ता था। यह बेचारे हैं क्या? बड़े ठाकुर की दुम बने घूमते हैं। मैं सच कहता हूँ, अभी इस गाँव के डाँड़े पर भी गोली चलने लगे, तो ठाकुर साहब ठकुराइन के लहँगे में दिखलाई पड़ें। मैंने तो तोप के मुँह पर डटकर बन्दूकें चलाई हैं। पर बेटा, समय सब कुछ करा लेता है। जिन्होंने कभी तोप की सूरत भी नहीं देखी, वह वीर और ठाकुर बने घूमते हैं। हमें आँखें दिखाते हैं कि रुपये दो, नहीं पेड़ कटवा लेंगे। देखें, कैसे पेड़ कटवाते हैं? लाख बुड्ढा हो गया हूँ, पर अब भी चार-छः के लिए बहुत हूँ। जब तलवार लेकर डट जाऊँगा, तो भागते ही दिखलाई पड़ेंगे। और बेटा, सौ बात की एक बात तो यह है कि मुझे तो अब मरना ही है, चल-चलाव लग रहा है। मैं बड़ी-बड़ी लड़ाइयों से जीता लौट आया। समझूँगा, यह भी एक लड़ाई ही है। पर इतना समझ रखना कि मेरे जीते-जी इस पेड़ की एक डाल भी कोई काटने नहीं पावेगा। उनका रुपया गले-बराबर है। भगवान जानें, मेरे पास होता, तो मैं दे देता। नहीं है, तो क्या किया जाय? पर यह भी नहीं हो सकता कि ठाकुर साहब मेरा पेड़ कटवा लें, और मैं बैठे टुकुर-टुकुर देखा करूँ।"

तेजा बोला—"चाचा, जाने भी दो, इन बातों में क्या रक्खा है? पेड़ कटवाने को कहते हैं, काट लेने देना। इस पेड़ में तुम्हारा रक्खा ही क्या है? पेड़ तो रोज़ ही कटा करते हैं।"

मनोहरसिंह बिगड़कर बोला—"आखिर लड़के ही हो न! अरे बेटा, यह पेड़ ऐसा-वैसा नहीं है। यह पेड़ मेरे भाई के बराबर है। मैं इसे अपना सगा भाई समझता हूँ। यह मेरे पिता के हाथ का लगाया हुआ है, किसी और के हाथ का नहीं। जब मैं तुमसे भी छोटा था, तब से इसका और मेरा साथ है। मैं बरसों इस पर खेला हूँ, बरसों इसकी मीठी-मीठी निबौलियाँ खायी हैं। इसकी दतून आज तक करता हूँ। गाँव में सैकड़ों पेड़ हैं; पर मुझसे कसम ले लो, जो मैंने कभी उनकी एक पत्ती तक छुई हो। जब मेरे घर में आप ही इतना बड़ा पेड़ खड़ा हुआ है, तब मुझे दूसरे पेड़ में हाथ लगाने की क्या पड़ी है। दूसरे, मुझे किसी और पेड़ की दतून अच्छी ही नहीं लगती।"

तेजा बोला—"चाचा, बिना रुपये दिये तो यह पेड़ बच नहीं सकता।"

मनोहर—"बेटा, ईश्वर जानता है, मेरे पास रुपये होते, तो मैं आज ही दे देता। पर क्या करूँ लाचार हूँ। मेरे घर में ऐसी कोई चीज़ भी नहीं, जो बेचकर दे दूं। मुझे आप इस बात का बड़ा दुःख है। गाँव-भर में घूम आया, किसी ने उधार न दिये। क्या करूँ? बेटा तेजा, सच जानना, जो यह पेड़ कट गया, तो मुझे बड़ा दुःख होगा। मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायगा। अभी तक मुझे कोई दुःख नहीं था। खाता था, ईश्वर-भजन करता था। पर अब घोर दुःख हो जाएगा।"

यह कहकर वृद्ध मनोहरसिंह ने आँखों में आँसू भर लिये।

तेजा वृद्ध मनोहरसिंह का कष्ट देख-सुनकर बड़ा दुखी हुआ। तेजासिंह गाँव के एक प्रतिष्ठित किसान का लड़का था। उसका पिता डेढ़-दो सौ बीघे भूमि की खेती कराता था। मनोहरसिंह को तेजासिंह चाचा कहा करता था।

तेजा ने कहा—"चाचा, बापू से यह हाल कहा ?"

मनोहर—"सब से कह चुका बेटा। तेरा बापू तो अब बड़ा आदमी हो गया है, वह मेरे-जैसे गरीबों की बात क्यों सुनने लगा! एक जमाना था, जब वह दिन-दिन-भर मेरे द्वार पर पड़ा रहता था। घर में लड़ाई होती थी, तो मेरे ही यहाँ भाग आता था, और दो-दो तीन-तीन दिन तक बना रहता था। वही तुम्हारा बापू अब सीधे बात नहीं करता। इसी से कहता हूँ, समय की बात है।"

तेजा ने पूछा—"कितने रुपये देने से पेड़ बच सकता है ?"

मनोहर—"पचीस रुपये देने पड़ेंगे।"

तेजा—"पचीस रुपये तो बहुत हैं, चाचा!"

मनोहर—"पास नहीं हैं, तो बहुत ही हैं। होते, तो, थोड़े थे।"

तेजा—"दस-पाँच रुपये की बात होती, तो मैं ही कहीं से ला देता।"

मनोहर—"बेटा, ईश्वर तुझे चिरंजीव रक्खे। तूने एक बात तो कही। गाँववाले ने तो इतना भी नहीं कहा। खैर, देखा जायगा। पर इतना तू याद रखना कि मेरे जीते-जी इस पेड़ को कोई हाथ नहीं लगाने पावेगा।"

(३)

एक सप्ताह बीत गया। आज आठवा दिन है। मनोहरसिंह रुपयों का प्रबन्ध नहीं कर सका। वह समझ गया कि अब पेड़ बचना कठिन है। पर साथ ही वह यह भी निश्चय कर चुका था कि उसके जीते-जी कोई उसको नहीं काट सकता। उसने अपनी तलवार भी निकाल ली थी, और साफ़ करके रख ली थी। अब वह हर समय पेड़ के नीचे ही पड़ा रहता था। तलवार सिरहाने रक्खी रहती थी।

आठवें दिन दोपहर के समय शिवपालसिंह ने मनोहरसिंह को बुलाया। मनोहरसिंह तलवार बगल में दाबे अकड़ता हुआ ठाकुर साहब के सामने पहुँचा।

शिवपालसिंह और उनके पास बैठे हुए लोग बुड्ढे को इस सज-धज से देखकर मुसकिराए। शिवपालसिंह ने कहा—"सुनते हो मनोहरसिंह, एक सप्ताह बीत गया, अब पेड़ हमारा हो गया। आज हम उसकी कटाई शुरू कराते हैं।"

मनोहर—"आपको अधिकार है। मुझे रुपया मिलता, तो दे ही देता; और अब भी यदि मिल जायगा, तो दे दूँगा। मेरी नीयत में बेईमानी नहीं है। मैं फौज में रहा हूँ, बेईमानी का नाम नहीं जानता।"

शिवपाल—"तो अब हम उसे कटवा लें न?"

मनोहर—"यह मैं कैसे कहूँ, आपका जो जी चाहे, कीजिए।"

यह कहकर मनोहरसिंह उसी प्रकार अकड़ता हुआ ठाकुर शिवपालसिंह के सामने से चला आया, और अपने पेड़ के नीचे चारपाई पर आकर बैठ गया।

दोपहर ढलने पर चार-पाँच आदमी कुल्हाड़ियाँ लेकर आते हुए दिखलाई पड़े। मनोहरसिंह झट म्यान से तलवार निकाल डटकर खड़ा हो गया, और ललकारकर बोला—"सँभलकर आगे बढ़ना! जो किसी ने भी पेड़ में कुल्हाड़ी लगाई, तो उसकी और अपनी जान एक कर दूँगा।"

मजदूर बुड्ढे की ललकार सुन और तलवार देखकर भाग खड़े हुए।

जब शिवपालसिंह को यह बात मालूम हुई, तब पहले तो वह बहुत हँसे, परन्तु पीछे कुछ सोचकर उनका चेहरा क्रोध के मारे लाल हो गया। वह बोले—"इस बुड्ढे की शामत आई है। हमारा माल है, हम चाहे काटें, चाहे रक्खें, वह कौन होता है? चलो तो मेरे साथ, देखूँ, वह क्या करता है?"

शिवपालसिंह मजदूरों तथा दो लठ-बन्द आदमियों को लेकर पहुँचे। उन्हें आते देख बुड्ढा फिर तलवार निकालकर खड़ा हो गया।

शिवपालसिंह उसके सामने पहुँचकर बोले—"क्यों मनोहर, यह क्या बात है?"

मनोहरसिंह बोला—"बात केवल इतनी है कि मेरे रहते इसे कोई हाथ नहीं लगा सकता। यह मैं जानता हूँ कि अब पेड़ आपका है; मगर यह होने पर भी मैं इसे कटता हुआ नहीं देख सकता।"

शिवपालसिंह—"पर हम तो इसे कटवाए बिना न मानेंगे।"

मनोहरसिंह को भी क्रोध आ गया। वह बोला—"ठाकुर साहब, जो आप सच्चे ठाकुर हैं, तो इस पेड़ को कटवा लें। जो मैं असली ठाकुर हूँगा, तो इसे न कटने दूँगा।"

ठाकुर शिवपालसिंह अपने आदमियों से बोले—"देखते क्या हो? इस बुड्ढे को पकड़ लो, और पेड़ काटना शुरू कर दो।"

ठीक उसी समय तेजासिंह दौड़ता हुआ आया, और मनोहरसिंह को कुछ रुपये देकर बोला—"लो चाचा, ये रुपये; अब तुम्हारा पेड़ बच गया।"

मनोहरसिंह ने रुपये गिनकर ठाकुर शिवपालसिंह से पूछा—"कहिये ठाकुर साहब, रुपये लेना हो, तो ये हाज़िर हैं। और, जो पेड़ कटवाना हो, तो आगे बढ़िये।"

ठाकुर—"रुपये अब हम नहीं ले सकते। रुपये देने की मियाद बीत गई। अब तो पेड़ कटेगा।"

मनोहरसिंह अकड़कर बोला—"ठीक है, अब मालूम हुआ कि आप केवल मुझे दुःख पहुँचाने के लिए पेड़ कटवा रहे हैं। अच्छा, कटवाइए। मुझे भी देखना है, आप किस तरह पेड़ कटवाते हैं?"

इतनी ही देर में गाँव-भर में यह खबर फैल गई कि शिवपालसिंह मनोहरसिंह का पेड़ कटवाते हैं; पर मनोहरसिंह तलवार खींचे खड़ा है, किसी को पेड़ के पास नहीं जाने देता। यह खबर फैलते ही गाँव-भर जमा हो गया।

गाँव के दो-चार प्रतिष्ठित आदमियों ने मनोहरसिंह से पूछा—"क्या बात है मनोहरसिंह?"

मनोहरसिंह सब हाल कहकर बोला—"मैं रुपये देता हूँ, ठाकुर नहीं लेते। कहते हैं, कल तक मियाद थी, अब तो पेड़ कटेगा।"

शिवपालसिंह बोले—"कल तक यह रुपये दे देता, तो पेड़ पर हमारा कोई अधिकार न होता। अब हमारा उस पर पूरा अधिकार है। हम पेड़ अवश्य कटवावेंगे।"

एक व्यक्ति बोला—"जब कल तक इसके पास रुपये नहीं थे, तो आज कहाँ से आ गये?"

शिवपालसिंह का एक आदमी बोला—"तेजा ने अभी लाकर दिये हैं।"

गाँववाले के साथ तेजा का पिता भी था। उसने यह सुनकर तेजा को पकड़ा, और कहा—"क्यों बे, तूने ही रुपये चुराए थे? मैंने दोपहर को पूछा, तो तीन-तेरह बकने लगा था।"

इसके बाद मनोहरसिंह से कहा—"मनोहर, ये रुपये तेजा मेरी सन्दूक से चुरा लाया है। ये रुपये मेरे हैं।"

मनोहर रुपये फेंककर बोला—"तेरे हैं, तो ले जा। मैंने तेरे लड़के से रुपये नहीं माँगे थे।"

फिर मनोहरसिंह ने तेजा से कहा—"बेटा, तूने यह बुरा काम किया। चोरी की! राम-राम! बुढ़ापे में मेरी नाक कटाने का काम किया था। ये लोग समझेंगे, मैंने ही चुराने के लिए तुझसे कहा होगा।"

तेजा बोला—"चाचा, मैं गंगा उठाकर कह सकता हूँ कि तुमने मुझसे रुपये माँगे तक नहीं, चुराने को कहना तो बड़ी दूर की बात है।"

शिवपालसिंह ने हँसकर कहा—"क्यों मनोहर, अब रुपये कहाँ हैं? लाओ, रुपये ही लाओ। मैं रुपये लेने को तैयार हूँ। अब या तो अभी रुपये दे दो, या सामने से हट जाओ। झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं होगा।"

मनोहरसिंह बोला—"ठाकुर साहब, तानों से क्या फायदा? रुपये पास नहीं हैं, लेकिन पेड़ मैं कटने नहीं दूँगा।"

शिवपालसिंह उपस्थित लोगों से बोले—"आप लोग इस बात को देखिये, और न्याय कीजिये। मियाद कल तक की थी, मैं आज भी रुपये लेने को तैयार हूँ। अब मेरा अपराध नहीं। यह बुड्ढा व्यर्थ झगड़ा कर रहा है।"

तेजासिंह यह सुनते ही आगे बढ़ा, और अपनी उँगली से सोने की अँगूठी उतारकर शिवपालसिंह से बोला—"ठाकुर साहब, यह अँगूठी एक तोले की है, आपके रुपये इससे निकल आवेंगे। आप यह अँगूठी ले जाइये। इस अँगूठी पर बापू का कोई अधिकार नहीं। यह अँगूठी मुझे मेरी नानी ने दी थी।"

सब लोग लड़के की बात सुनकर दंग हो गये।

यह देखकर तेजासिंह का पिता आगे बढ़ा, और बोला—"ठाकुर साहब, लीजिये ये पच्चीस रुपये, और अब इस पेड़ को छोड़ दीजिये। आप अभी कह चुके हैं कि 'रुपये मिल जायँ, तो पेड़ छोड़ देंगे।' अतएव अपने वचन का पालन कीजिये।"

ठाकुर साहब के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्हें विश्वास हो गया था कि अब मनोहरसिंह को रुपये मिलना असम्भव है। इसी से उन्होंने केवल अपनी उदारता दिखाने के लिए रुपये लेना स्वीकार किया था। अब वह कुछ न कह सके। कारण, उन्होंने पच्चीस-तीस आदमियों के सामने रुपये लेना स्वीकार कर लिया था। वह रुपये लेकर चुपचाप चले गये।

ठाकुर साहब के चले जाने के बाद मनोहरसिंह ने तेजा को बुलाकर छाती से लगाया, और कहा—"बेटा, इस पेड़ को तूने ही बचाया, अतएव मैं तुझी को यह पेड़ देता हूँ। मुझे विश्वास हो गया कि मेरे पीछे तू इस पेड़ की पूरी रक्षा कर सकेगा।"

तेजा से यह कहकर उपस्थित लोगों से कहा—"भाइयो, मैं तुम सब के सामने यह पेड़ तेजासिंह को देता हूँ। तेजा को छोड़कर इसपर किसी का कोई अधिकार न रहेगा।"

फिर तलवार म्यान में रखते हुए आप-ही-आप कहा—"पर मेरे जीते जी कोई पेड़ में हाथ नहीं लगा सकता था। अपनी और उसकी जान एक कर देता। मैंने फ़ौज में नौकरी की है। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती हैं। यह बेचारे हैं क्या चीज़!"

अशिक्षित का हृदय

प्रस्तुत कहानी में ग्राम-जीवन का एक सामान्य दृश्य है। इसमें इति-वृत्त समगति से आद्यन्त चला है; किसी विशेष उतार-चढ़ाव का अवसर नहीं आया है—न कथानक में और न चरित्र में। ठाकुर शिवपालसिंह नीम के पेड़ को कटवाने के लिए उद्यत हैं और बूढ़ा मनोहरसिंह कृत निश्चय है कि जान चली जायगी पर वह वृक्ष उसके बड़े भाई के समान है इसलिए कट नहीं सकता। कहानी का प्रतिपाद्य है—उस बूढ़े सैनिक के हृदय की सरल और भावुक दृढ़ता। अपने ऊपर ठाकुर साहब के पावने को स्वीकार करने में उसे रंचमात्र हिचिक नहीं है। विवश होकर वह इस बात को भी स्वीकार कर लेता है कि उस नीम के पेड़ पर ठाकुर का ही अधिकार हो जाय पर वह वृक्ष काटा नही जा सकता। उसके साथ जो साहचर्यजनित भावनाएँ लिपटी हैं वे ही उसके हृदय की दृढ़ता को निरंतर जगाती हैं। तेजासिंह की बाल-सुलभ कोमलता और त्याग की सुन्दरता ने कहानी में प्राण डाल दिया है।

'कौशिक' जी की कहानियों में सामान्यतः हृदय की कोमल और सरल वृत्तियों की विवृति का उद्घाटन होता है। कौटुम्बिक और व्यक्तिगत जीवन के चित्रण में वे विशेष पटु हैं। पुराने कहानी-लेखकों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। भाषा की व्यावहारिकता और स्वच्छंता के कारण भी उनकी रचनाओं का सौन्दर्य बढ़ गया है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

जन्म-सम्वत् १९४८ वि०, सन् १८९१ ई०; जन्मस्थान—सूर्यपुरा (शाहाबाद)।

आप 'इन्दु' के प्रकाशन-काल ही से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। सन् १९१५ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० की परीक्षा पास की। इस समय बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के कण्ट्रोल बोर्ड के सदस्य हैं।

भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। कितनी सुगमता से आप इसे भंगिमा देते हैं। आपकी भाषा भी, आकर्षण की दृष्टि से, कथानक की प्रति-द्वन्द्विनी बन जाती है—एक ओर तो भाषा आकृष्ट करती है, दूसरी ओर हमारा मन कथावस्तु में उलझना चाहता है। अंगरेज़ी, फ़ारसी तथा उर्दू के शब्दों की नग-जड़ाई जिस कौशल से आप करते हैं, उससे आपकी भाषा और भी चमक उठती है। 'कुसुमाञ्जली', 'नवजीवन', 'प्रेम-लहरी', 'तरंग', 'गांधी टोपी', 'सावनी समाँ', 'पुरुष और नारी', 'सूरदास', 'राम-रहीम' 'नारी क्या एक पहेली' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कानों में कँगना

(१)

"किरण ! तुम्हारे कानों में यह क्या है ?"

उसने कानों से चञ्चल लट को हटाकर कहा—"कँगना !"

सचमुच दो कंगन कानों को घेरकर बैठे थे।

"अरे कानों में कँगना ?"

"हाँ—तब कहाँ पहनूँ ?"

किरण अभी भोली थी। दुनियाँ में जिसे भोली कहते हैं, वैसी भोली नहीं; उसे वन के फूलों का भोलापन समझो। नवीन उद्यान के फूलों की भंगी नहीं;—विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निरन्तर काट-छाँट से जिनका सौन्दर्य है, जो दो घड़ी चञ्चल, चिकने बाल की भूषा हैं, जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान के गौरव हैं, वैसे, वन के फूल-ऐसे नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा से बढ़ी है, चटुल दृष्टि उसे पाती नहीं, जगत्-वायु उसे छूती नहीं। वह सरल, सुन्दर, सौरभमय जीवन है। जब जीवित रहे तब चारों तरफ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे; जब समय आया तब अपनी माँ के गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था—नील, उदार, सुन्दर। पत्ते चुप थे, शान्त थे। सन्ध्या हो चली थी। सुनहली किरणें सुन्दर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्यु-शय्या से इस शून्य, निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी—कौन कहे ? किसे एकटक देखती थी—कौन जाने ? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह करुण चाहती थी या हमारे बाद वहाँ क्या हो रहा है, इसे चाहती थी ? मैं क्या बता सकता हूँ ? उस भंगी में आकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन बड़ी-बड़ी आँखों की किरण

लूटता था। आकाश में तारों को देखा, या उन मनोहर आँखों को देखा बात एक ही थी। हम दूर से तारों के सुन्दर, शून्य झिकमिक को बार-बार देखते हैं, लेकिन वह निःस्पन्द, निश्चेष्ट ज्योति सचमुच भावहीन है, या आप-ही-आप अपनी अन्तर-लहरी में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि, उनके सहारे उस निगूढ़ अन्तर में डूबकर थाह लें ?

मैं रसाल की डाली थामकर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटाकर कँगना दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रहकर उठती थी। जब माखन चुरानेवाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़कर उनके भीतरी किले को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने अञ्चल से कबूतर को उड़ाकर शाहंशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं; फिर नदी-किनारे वसन्त-वल्लभ रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी, किसी अपरूप बालिका की सरलस्निग्ध लीला एक मानव अन्तर पर क्यों न दौड़े ? किरण इन आँखों के सामने प्रति-दिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी के फूलों की माला बना लाती, किन्तु कभी भी ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से होकर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था ? कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनेली लता मन्दार माला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी ? कौन जानता था कि चाल से कुचाल जाने में, हाथों के कंगन भूलकर कानों में पहिनने में इतनी माधुरी थी, दो टके के कंगनों में ऐसी शक्ति है ! गोपियां को भी स्वप्न में भी न झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोलकर नचा देने की शक्ति है।

मैंने चटपट उसके कानों से कँगना उतार लिया, फिर धीरे-धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न-जाने इस घड़ी कैसी खलबली थी, मुँह से अचानक निकल आया—"किरण ! आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह भीतर तक पैठ गई।"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गईं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा। प्राण भी उसी समय नहीं चल पड़े, यही विस्मय था।

(२)

एक दिन था कि इस दुनियाँ में दुनियाँ से दूर रहकर भी लोग दूसरी दुनियाँ का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया भूलोक पर कहाँ मिले, किन्तु किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे वन थे जिनके वृक्षों की छाया में दो घड़ी घाम निवारने के लिए स्वर्ग से देवता तक उतर आते थे। जिस पञ्चवटी के अनन्त यौवन को देखकर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने अमर-तरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छींटों की शीतलता नहीं ढूँढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था? कल्प-वृक्ष की छाया में शान्ति अवश्य है; लेकिन कदम की छाँह की शान्ति कहाँ मिल सकती है? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देखकर प्रकृति-रजनी छः महीने तक ठगी रही, शत-शत देवांगनाओं ने पारिजात के फूलों की वर्षा से नन्दन-कानन को उजाड़ डाला।

समय ने सब कुछ पलट दिया। अब ऐसे वन नहीं, जहाँ कृष्ण गो-लोक से उतरकर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसे कुटीर नहीं, जिनके दर्शन से रामचन्द्र का अन्तर भी प्रसन्न हो, या ऐसे मुनीश नहीं, जो धर्म-धुरन्धर धर्मराज को भी धर्म में शिक्षा दें।

यदि एक-दो भूले-भटके हैं भी, तब अभी तक उन पर दुनियाँ का पर्दा नहीं उठा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन कब तक बचे रहेंगे? लोक अपने यहाँ अलौकिक बातें कब तक होने देगा?

हृषीकेश के पास एक सुन्दर वन है; सुन्दर नहीं अपरूप सुन्दर है। वह प्रमाद-वन के विलास-निकुञ्जों से सुन्दर नहीं, वरञ्च चित्र-

कूट या पञ्चवटी की महिमा से मण्डित है। वहाँ चाँदनी में बैठकर कनक-घुँघरू की इच्छा नहीं होती, पञ्च प्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी अनन्त-साधना के कूल पर पहुँचाती है, कभी जीव-जगत् के एक-एक तत्व से दौड़ मिलाती है। गंगा की अनन्त महिमा, वन की निविड़ योग-निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है; गम्भीर अलौकिक आनन्द, या शान्त सुन्दर मरण?

इसी वन में एक कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर, योगीश्वर ही थे।

यद्यपि वह भू-तल ही पर रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्त-वृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी या ब्रह्म-लोक की अनन्त शान्ति में लिपटी थी, और वह बालिका स्वर्ग से एक किरण उतरकर उस घने जङ्गल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक-माया-बद्ध जीवन नहीं था। उसे बन्धन-रहित, बाधाहीन नाचती किरणों की रेखा कहिये। मानो मत्त, चञ्चल मलय-वायु फूल-फूल पर, डाली-डाली पर डोलती फिरती हो, या कोई मूर्तिमती अमर सङ्गीत बे-रोक-टोक हवा पर या जल के तरङ्ग-भङ्ग पर नाच रही हो। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था, मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खींच लाता था।

कोई साल-भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आता-जाता था। पिता की रुचि थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रंथ सब पढ़ डालो। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे, इसलिए उनकी मुझ पर इतनी दया थी। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर में एक वही दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ, उसी दिन सवेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, पाँच स्वर्ण-मुद्रा तथा किरण के लिए दो कनक-कंकन आचार्य के निकट ले

गया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिया, केवल कंकन को किरण उठा ले गई। वे नहीं मालूम क्या समझकर चुप रह गये। समय का अद्भुत चक्र है। जिस दिन मैंने धर्म-ग्रन्थ से मुँह मोड़ा, उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना उलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न-जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गम्भीर थीं। मुझको देखते ही वह उठ खड़े हुए और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर गद्गद् स्वर से बोले—"नरेन्द्र! अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।" यह कहकर उन्होंने उसकी सुकोमल उँगलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कोनों पर दो बूँदें निकलकर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा। क्या उन पर सब बातें विदित थीं? क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्लहरी तक डूब चुकी थी? वे ठहरे नहीं, चल दिये। मैं काँपता रह गया। किरण देखती रह गई।

वन-वायु भी अवाक् हो गई। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे थी। हठात् अन्तर से कोई कड़ककर कह उठा—"हाय नरेन्द्र, यह क्या? तुम इस वन-फूल को किस उद्यान में ले चले? इस बन्धन-विहीन स्वर्गीय जीवन को किस लोक-जाल से बाँधने ले चले?"

(३)

कंकड़ी जल में जाकर कोई स्थायी विवर नहीं फोड़ सकती। क्षण-भर जल का समतल भले ही उलट-पुलट हो, लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर किसी छिद्र का चिह्न-मात्र भी नहीं रहने देते। जगत् की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी भागकर इस लोक-चला-चल-से खड़े हों, फिर संसार देखते-ही-देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बचा रहे, ऐसी शक्ति अब आकाश-कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी' कहकर वन-वन भटकते फिरे। दो क्षण में वही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाया।

किरण की यही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद, कहाँ जगत् का जटिल बन्धन-पाश!—कहाँ से कहाँ आ पड़ी। वह अलौकिक भोलापन, वह निसर्ग उच्चावास हाथों-हाथ लुट गये। उस वन की मायावी मनोहारिता में परिणत हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बात-चीत करने का अवसर कहाँ से मिले, मलय-वायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछ-ताछ क्योंकर हो?

जब किरण नये साँचे में ढलकर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल, पीली, हरी साड़ी पहिनकर सिर पर सिन्दूर-लेखा सजती; और हाथों में कंकन, कानों में बाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी, दिन-दिन उसके चित्त को नचाये मारती थीं। जब कभी वह सज-धजकर चाँदनी में कोठे पर जाती और वसन्त-वायु उसके आँचल से मोतिये की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देती; उस समय किसी मतवाली माधुरी या तीव्र मदिरा के नशे से मेरा मस्तिष्क घूम जाता और मैं चटपट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भरकर जूही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाजार से दौड़कर कटकी, गहने या विलायती चूड़ी खरीद लाता। लेकिन जो हो, अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल बदन पर उस आलोक की छटा पूर्व-जन्म की सुख-स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त, सुन्दर जिकमिक का नाच दिखाती थीं। जब अन्तर प्रसन्न था तब बाहरी चेष्टा पर प्रतिबिम्ब क्यों न पड़े?

यों ही साल-दो-साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँख मिली; मिली क्या, लीन हो गई। नवीन यौवन, कोकिल-कण्ठ, चतुर, चंचल चेष्टा तथा मायावी चकमक—अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिये। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही थी। नाचनेवाली नहीं नचानेवाली थी। पहली बार देखकर उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था—एक लपट-सी लगती—कोई नशा-सा चढ़ जाता। यारों ने मुझे और भी चढ़ा दिया।

आँखें मिलती-मिलती मिल गईं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गईं।

फिर क्या था—इतने दिनों की धर्म-शिक्षा, शत वत्सर की पूज्या लक्ष्मी, बाप-दादों की कुल-प्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम—एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना-कुण्ड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गई। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घर-बार सब जल उठा। मैं भी निरन्तर जलने लगा; लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गये। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी, पारसी जैकेट, मोती का हार, कटकी काम—सब कुछ लाकर उस मायाकरी के अलक-रञ्जित चरणों पर रक्खा। और किरण? हेमन्त की मालती बनी थी; जिसके घर एक फूल नहीं—एक पल्लव नहीं।

घर की वधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, वही हाथों-हाथ पराये के हाथ बिक गया। किन्तु ये तो दोनों दिन चकमकी खिलौने थे, इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन-भर बहाने की माला गूँथ-गूँथकर किरण के गले में और रात्रि को मोती की माला उस नाचनेवाली या नचानेवाली के गले में संशक, निर्लज्ज डाल देता। यही मेरा कर्तव्य, धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गईं। किरण पछाड़ खाकर ज़मीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

(४)

बरसात की रात थी। रिमझिम-रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी हुई थी। चाँदनी मेघों से आँख-मुदौअल खेल रही थी। बिजली, लोल कपाट से बार-बार झाँकती थी। वह किसे चंचल देखती थी, और बादल किस मसोस से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे अवसर ही न था। मैं तो किन्नरी के दरवाजे से हताश लौटा था, आँखों के ऊपर न चाँदनी थी, न बदली। त्रिशंकु ने स्वयं जाते-जाते बीच ही से टँगकर

किस दुःख को उठाया; और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाजे पर सर रखकर निराश लौटा था, मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो ? हाय ! एक अँगूठी भी रहती तो उसे दिखाकर उसके चरणों से चन्दन चाटता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा—जूही ! जूही ! किरण के पास कुछ भी बचा-बचा हो, तो फौरन जाकर माँग लाओ। ऊपर से कोई आवाज़ नहीं आई, केवल सर के ऊपर से एक काला बादल, कालान्त चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

सब सन्दूक झाँके, जो कुछ मिला सब तोड़ डाला; लेकिन मिला कुछ भी नहीं। आलमारी में केवल मकड़े का जाला था। शृंगार-बक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे निःसहाय, निस्पन्द लेटी हुई थी। चाँदनी ने, खिड़की से आकर उसे गोद में ले रक्खा था। और वायु उस शान्त शरीर पर जल भिगोया पंखा झल रही थी। मुख पर एक अपरूप छटा थी। कौन कहे, कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अटकी हो। आँखों में एक नवीन ज्योति थी, शायद प्राण शरीर से निकलकर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं फिर पुकार उठा—किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है ?

"हाँ"—क्षीण कण्ठ की काकली थी।

"कहाँ है—अभी देखने दो।"

उसने धीरे से घूँघट सरकाकर कहा—वही कानों का कँगना।

सर तकिये से ढल पड़ा। आँखें भी झिप गईं। वह जीवन्त रेखा कहाँ उड़ गई ? क्या इतने ही के लिए अब तक ठहरी थी ?

मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं—वही कंगन थे, वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे। मेरी स्मृति तड़िद्वेग से चमक उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी

को पहचान लिया था—भूली शकुन्तला तत्क्षण याद आ गयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे; अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छानकर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी, कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ ऐसी शक्ति इस दीन-हीन मानव में कहाँ?

सारी बातें सूझ गईं। चढ़ा नशा उतर पड़ा, आँखों पर की पट्टी खुल गई; लेकिन हाय! खुली भी तो उसी समय जब जीवन में केवल अन्धकार ही अन्धकार रह गया।

—

कानों में कँगना

हिन्दी की कहानी-रचना में राजा साहब की इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसका निर्माण उस काल में हुआ था जब हिन्दी में कहानी-कला का स्वरूप संगठित हो रहा था और इस विषय के लिखनेवाले इने-गिने थे। ऐसे समय में ऐसी प्रौढ़ सृष्टि देखकर हिन्दी जगत प्रसन्न हो उठा था और 'प्रसाद' जी के समान कलाकार भी गद्गद हो गये थे। इस कहानी में लेखक की भाषा शैली भावप्रधान, अलंकृत और परिष्कृत है। साथ ही सारा कथानक कलात्मक ढंग से सुगठित है। आदि और अन्त कौशलपूर्वक संतुलित हैं, जिससे रचनात्मक सौष्ठव का पूरा परिचय मिल जाता है। ई० सन् १६१२ तक विषय का इतना शृंगारमय स्थापन सर्वथा नवीन था। इस दृष्टि से इस रचना की विशेषता का अनुमान लगाया जा सकता है। नशा के उतरने-चढ़ने का इतना विवरणात्मक निवेदन बिना प्रतिभा-बल के कदापि सम्भव नहीं। किरण के आत्यन्तिक आत्मदान और नरेन्द्र की अज्ञानमूलक उपेक्षा की ही यह करुण कहानी है—जो काव्यात्मक पद्धति से उपस्थित की गई है। विषय की भावात्मकता की प्रकृति के अनुरूप ही सारा वातावरण और पूर्व-पीठिका सजाई गई है। इस प्रकार दोनों पक्षों का अन्योन्य सम्बन्ध स्फुट हो गया है। यही इस कहानी का मूलाधार है।

—

जैनेन्द्रकुमार

बचपन में ही पितृहीन हो जाने के कारण माता द्वारा पोषित हिन्दी का यह शक्तिशाली लेखक अलीगढ़ के कौड़ियागंज स्थान में १६०५ में उत्पन्न हुआ था ; स्कूली शिक्षा के नाम प्राइवेट मैट्रिक किया पर स्वयं सहित्य-सृजन में अपनी अनोखी शैली में अकेले हैं। कहानी और उपन्यास-लेखकों में अग्रगण्य लेखकों में हैं। इधर काफी दिनों से दार्शनिक लेखों में विशेष दिलचस्पी है।

लगभग सात उपन्यास, आठ कहानी संग्रह तथा अनेकों लेख अभी तक जैनेन्द्र-लिखित हैं।

चोर

घर में आठ बरस का प्रद्युम्न बड़ा ऊधमी है। किसी की नहीं सुनता और ज़िद पर आ जाय, तो पूछिये ही क्या। इधर कुछ दिनों से वह कुछ गुमसुम रहता है। ऊधम-दंगा भी कम हो गया है। जाने क्या बात उसके मन में बैठ गई है। शाम को स्कूल से आता है, तो दौड़कर खेलने बाहर नहीं चला जाता, इस-उस कमरे में ही दिखाई देता है। मैं परेशान हूँ। कहती हूँ—क्या हुआ है प्रद्युम्न ? तो सिर हिलाकर कह देता है—कुछ भी नहीं।

"तो खेलने क्यों नहीं गया ?"

"यों ही नहीं गया।"

मैं समझती हूँ कि रूठा है। तब गोद में लेकर प्यार करती हूँ। पर वह बात भी नहीं है। अब सबकी अपनी-अपनी जगह शोभा है। बालक में बुद्धिमानी अच्छी नहीं लगती। उसमें बचपन चाहिए। पर प्रद्युम्न जो आठ वर्ष की उम्र में बुजुर्ग बन रहा है, सो मैं कैसे देखती रह जाऊँ ? डपटकर कहा—जाता क्यों नहीं खेलने ? साथी बच्चों में मन ही बहलेगा।

डपटती हूँ, तो वह सचमुच चला जाता है। मैं डरती हूँ कि घर के बाहर इधर-ही-उधर तो वह नहीं भटक रहा है। पर नहीं, वह सीधा साथियों में जाता है और खेलकर काफी देर में लौटता है। एक बात देखती हूँ। शाम को निबटकर हम चार जनीं बैठकर बात करती हैं, तो वह भी पास बैठा हुआ दिखाई देता है। वह कुछ नहीं बोलता, चुपचाप सुनता रहता है। मुझसे सटकर भी नहीं बैठता और न कभी गोद में लेटने की ही चेष्टा करता है। अपने अलग-अलग गुमसुम बैठा रहता है।

आज कल दिन बड़े खराब हैं। गेहूँ ढाई सेर का भी मयस्सर नहीं है। दूध के दाम घोसी ने परसों से आठ आने सेर कर दिये हैं। शाक-भाजी के बारे में छै आने से कम की बात ही नहीं कीजिए! लौकी और कद्दू दोनों उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं; पर अब उन्हीं के हुक्म से वही बनाती हूँ, क्योंकि वे चार आने में जो आ जाते हैं। शहरियों की मुसीबत, बहन; कुछ न पूछो। मकान, किराया है कि दम खुश्क करता है। ४०) दे रही हूँ; पर मैं ही जानती हूँ कि कैसे गुज़र होती है। मेहमान आये, तो बैठाने को जगह नहीं। यह मुई लड़ाई जाने कब बन्द होगी! आपस में हमारी ऐसी ही बातें हुआ करती हैं।

सावित्री ने कहा—अरे जी, तुमने सुना, कल हमारे पड़ोस में एक का ताला टूट गया।

गिरजा बोली—यह न होगा, तो क्या होगा? कुछ नुकसान तो नहीं हुआ?

सावित्री ने कहा—यही खैर हुई। चौकीदार की लाठी की ठक-ठक सुनकर, कहते हैं, चोर भाग गया।

सब्ज़माला बोली—मैंने तो लोहे के किवाड़ लगाने को कह दिया है। देखो न, उस रोज़ उनके यहाँ से कपड़े-जेवर सब चला गया। और तो और बर्तन तक ले गये।

यह समाचार पुराना पड़ गया था; पर आज इस मौके पर वह फिर नया हो आया।

दुलारी बोली—दूर क्यों जाओ, रात की बात मुमानीजी से ही न पूछो कि रह-रहकर कैसा खटका होता रहा और सवेरे देखते हैं, तो साफ़ निशान हैं कि किसी ने कुण्डे पर हाथ आजमाया है।

मुमानी इस मण्डली में कुछ नयी हैं। शायद वजह यह भी हो कि वह अकेली मुसलमान हैं। लेकिन उनके कुण्डे की बात आई, तो उत्साह से उन्होंने पूरा बखान किया—नवाब साहब आये न थे। दो का वक्त

था। ए० आर० पी० के काम में उन्हें अक्सर देर हो जाती है। अब घर में हम सब जनीं अकेली। मर्द कोई भी नहीं। बहन, कुछ पूछो नहीं। खट-खट सुन रही हैं; पर कुछ करते नहीं बनता। आपस में घुस-फुस कर के रह जाती हैं और सबके धुकधुकी हो रही है। मैंने तो सवेरे ही कह दिया—या तो नौ बजे आ जाओ, नहीं तो मकान तब्दील करो। खुदा जाने, मैं तो नौ बजे किवाड़ बन्द कर लिया करूँगी। मेरी बला से फिर वे कहीं रहें। सोएँ वहीं जाके अपने ए० आर० पी० में। खुदा क़सम बहन, देर तक छत पर से कई क़दमों के चलने की आहट आती रही। यह चोर......।

जैनमती बोली—क्यों, बशीर मियाँ घर में नहीं थे क्या ?

मुमानीजान ने कहा—उनकी भली चलाई। नई शादी हुई है, तो उन्हें क्या होश है ? दोनों को अपना कमरा है और बस। बाकी उनकी तरफ़ से सब-कुछ क्यों न लुट जाय। अब सच तो यह है बहन कि चोर का हौल मुझे भी था। इसीसे बोल नहीं रही थी, चुप थी।

रूपवती बोली—औरों की बात तो नहीं कहती, नीम पर चढ़कर इनके घर तो मैं कहो जब पहुँच जाऊँ।

सब ज़नीं इसपर बहुत खुश हुईं और कहने लगीं कि यह बात पते की है। मेरे मन में खुद इस कटे नीम की बात कई बार आई थी। सोचती थी कि म्यूनिसिपलिटी में लिखकर कटवा दूँ। इस मरे पेड़ को भी यहीं होना था। मैंने जैनमती की तरफ़ देखकर कहा—जीजी, बताओ क्या करूँ ? पेड़ है तो बड़े बेमौके, कोई चढ़कर आ सकता है। हमारा दिलीप ही रोज़ यहाँ से सड़क पर उतर जाता है। कहती हूँ मानता ही नहीं।

जीजी ने कहा—तो उनसे कहा ?

मैं बोली—उनसे जब कहा, तो उन्होंने कौन-सा काम करके रखा। बोले—'नीम के पेड़ से ठण्डी हवा आती है।' मैंने कहा—'चोर जो आ सकता है ?' बोले—'ज़रूर आ सकता है, इससे किवाड़ खुले रखा करो

और वक्त-बे-वक्त के लिए दो-चार रोटियाँ भी बचा रखा करो। आये कोई, तो उसे खाने को तो मिल जाय। चोर बेचारा भूखा होता है।' तब से जीजी, मैंने तो कान पकड़ा, जो कुछ कहूँ। सीधी की वह तो उल्टी लगाते हैं। जेठजी से कहना, वह कुछ इन्तज़ाम कर दें, तो मुझे कल पड़ जाय। हर घड़ी दिल धुक-धुक करता रहता है। बात यहाँ कर रही हूँ और मन...। क्या बजा होगा?

"नौ बज गया।"

मैं घबराकर बोली—नौ! सब जनीं मेरा तमाशा देखने लगीं। मैंने कहा—मुझे जाने दो। चल प्रद्युम्न, चलें।

प्रद्युम्न पीछे को एक तरफ़ बैठा था। औरों के साथ के बच्चे सब सो गये थे। प्रद्युम्न बिलकुल नहीं सोया था। इस वक्त भी जैसे वह यहाँ से उठना नहीं चाहता था।

सब्ज़माला ने उठती-उठती का हाथ पकड़कर मुझे बैठाल लिया और कहा—लाला आ तो गये हैं...।

मैं और भी घबराकर बोली—आ गये हैं?

सब्ज़माला ने कहा—वह देख, कमरे में बत्ती जल रही है। यह कहकर उसने मुझे अंक में भरकर चूम लिया। इस सहेली की मैं यहाँ बात नहीं कर सकती। वह मुझ पर ज़बर्दस्ती करती है; लेकिन इस ज़बर्दस्ती से ही मैं उसकी हो गई हूँ। बोली—लाला थोड़ी देर अकेले रह लेंगे, तो क्या हो जायगा? तुझे छोड़कर खुद जो महीनों बाहर रहते हैं।

मैंने कहा—उन्होंने खाना नहीं खाया, जीजी! मुझे जाने दो।

"आप ले के खालेंगे।" कहते हुए उसने मुझे जबरन बैठा लिया।

प्रद्युम्न अपनी जगह बराबर ध्यान लगाये बैठा था। खैर, मेरे बैठ जाने पर चोरी से हटकर चोरों की बात होने लगी। वे निर्दयी होते हैं, चालाक होते हैं, पास में कुछ-न-कुछ हथियार रखते हैं। इसी तरह

बात आगे बढ़कर डाकू, जेलखाना, कालापानी और फाँसी तक पहुँची। घड़ी ने दस बजाये, तब जाकर मेरा छुटकारा हुआ। और जनीं भी तब अपने घर गईं। प्रद्युम्न उँगली पकड़े मेरे साथ आ गया।

प्रद्युम्न के बाबूजी लेटे हुए किताब पढ़ रहे थे। कहा—पता है, अब क्या बजा है ?

मैंने टालते हुए कहा—खाना खा लिया ?

"खा लिया।"

वे नाराज़ थे। हां तो हां। मैं भी प्रद्युम्न को लिटाकर उसके बराबर लेट गई। उनसे बोली नहीं। वे भी किताब पढ़ते रहे। मुझे नींद नहीं आई थी; पर आँख बन्द किये लेटी थी। ऐसे समय प्रद्युम्न मेरी खाट से उठा और अपने बाबूजी के पास जाकर बोला—बाबूजी !

चौंककर उन्होंने मुँह फेरा। प्रद्युम्न को पास खड़ा देखकर कहा—आओ, प्रद्युम्न, मेरे पास सोओगे ? बच्चा पास बैठ तो गया, लेटा नहीं। "क्यों, बैठे क्यों हो ? सो जाओ।"

प्रद्युम्न ने कहा—चोर रोशनी में नहीं आता, बाबूजी ?

उसके बाबूजी ने कहा—नहीं, रोशनी में कोई चोर नहीं आता। और भाई, चोर भला कोई होता भी है ? सो जाओ।

लेकिन प्रद्युम्न नहीं सोया। थोड़ी देर बाद उसने पूछा—अँधेरे में आता है ?

उसके बाबूजी ने कहा—क्या बकते हो, सो जाओ। और उसे ज़बर्दस्ती लिटा दिया और अपनी किताब खोलकर पढ़ने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुड़कर देखा होगा कि प्रद्युम्न अब भी आँख फाड़े ऊपर देख रहा है, सोया नहीं है; क्योंकि तभी मैंने सुना कि उन्होंने कहा—अरे, अभी सोये नहीं तुम ? कहकर उन्होंने किताब अलग रख दी और बटन दबा दिया। फिर प्रद्युम्न को छाती के पास खींचकर थपका-थपकाकर सुलाने लगे। ऐसे उन्हें थोड़ी देर में नींद आ गई। मैं नहीं सोई थी।

इतने में देखती क्या हूँ कि अँधेरे में टटोल-टटोलकर प्रद्युम्न मेरी खाट पर आ गया।

मैंने उसे अपने में खींचकर फुसफुसाकर कहा—"बेटे, सो जाओ।" वह मेरे अंक में लगकर सोने की चेष्टा करने लगा। मैं थोड़ी-थोड़ी देर में उसके पपोटे देखती थी कि सो तो गया है न? मैंने कहा—क्यों प्रद्युम्न, नींद नहीं आती? क्या बात है?

कुछ देर साँस बाँधकर वह लेटा रहा। अन्त में वह रोक नहीं सका, एकाएक बोला—भाभी, चोर कैसा होता है?

मैं सुनकर हैरत में रह गई। मैंने कहा—अरे, वह सचमुच में कुछ थोड़े ही होता है। वह तो झूट-मूट की बात है।

"तो वह नहीं होता?"

मैंने कहा—बिल्कुल नहीं होता। सुनकर वह चुप रह गया। मैंने कहा—सो जाओ, भैया!

उसने ज़ोर से कहा—होता है।

मैं हँसकर बोली—तो बताओ कैसा होता है?

बोला—मेरी किताब में राक्षस की तस्वीर है, वैसा होता है। दो सींग, गदहे के-से कान और लम्बी जीभ।

मैंने कहा—हटो, कोई चोर-ओर नहीं होता। किताब में तो यों ही तस्वीरें बनी होती हैं। लो, अब सो जाओ। कहकर मैं उसे थपथपाने लगी और कुछ देर में वह सो गया।

इस बात को आठ-दस रोज़ हो गये। प्रद्युम्न की हालत पहले से ठीक है। मैंने सबसे कह दिया है कि प्रद्युम्न के सामने चोर की बात बिल्कुल मुँह से न निकालें। सब इस बात का ध्यान रखती हैं। और मालूम होता है कि चोर प्रद्युम्न के सिर से भी उतरकर भाग-भूग गया है।

दिलीप हमारा भतीजा है और साथ ही रहता है। वह एफ़० ए० में

पढ़ता है। कालेज दो मील होगा, साइकिल से आता-जाता है। प्रद्युम्न अपने कई साथियों के साथ स्कूल से लौटा था। आते ही बस्ता फेंक उनके साथ भाग जाना चाहता था। मैंने जैसे-तैसे उसे रोका और फल-मिठाई उसे खिलाने लगी। कहा—सवेरे से गया, तुझे भूख नहीं लगी, प्रद्युम्न ?

खाने तो वह लगा; पर मन उसका दोस्तों में था। इतने में आया दिलीप। बोला—चाची, एक चोर पकड़ा गया है, चोर। बाहर गली में सिपाही उसे ले जा रहे थे। सच्ची, चाची!

मैंने अनायास कहा—कहाँ रे ?

दिलीप कापी-किताब फेंकते हुए बोला—यह बाहर ही तो, गली के बाहर।

"तो चलो होगा, ले, अरे, खाता क्यों नहीं ?"

लेकिन प्रद्युम्न का मुँह रुक गया था। बरफी का पहला टुकड़ा भी नीचे नहीं उतरा था। वह भूला-सा सामने देखता रह गया था।

"ले खाता क्यों नहीं ? खाकर कहीं जाना।"

परन्तु प्रद्युम्न कुछ देर उसी तरह खोया-सा रहा; फिर एकदम उठकर वहाँ से भाग छूटा। मैंने तब दिलीप से कहा—जा भय्या, देख प्रद्युम्न कहाँ जा रहा है ?

दिलीप स्वयं ही जाना चाहता था। इससे वह भी लपककर भाग गया। आने पर देखा कि दिलीप जितना उल्लसित है, प्रद्युम्न उतना ही चिन्तित दीखता है। मैं दिलीप से पूछने-ताछने लगी और वह मुझे अपनी सुनी-सुनाई सब बताने लगा। प्रद्युम्न तब बराबर पास खड़ा था। सहसा बीच में वह बोला—चोर आदमी होता है, मा ? चोर नहीं होता ?

मैंने कहा—हाँ बेटा, आदमी ही होता है।

"राक्षस नहीं होता ?"

मैंने कहा—नहीं भय्या, राक्षस नहीं होता।

वह मेरी तरफ ताकता हुआ देखता रह गया, बोला—राक्षस नहीं होता—बिल्कुल राक्षस नहीं होता? तो फिर क्या बात है, अम्मा? अब से किवाड़ बन्द मत किया करो।

मैंने तो सुनके माथा ठोक लिया, बहन! सोचा कि इस ज़रा-से में भी तो बाप के लच्छन आ गये!

चोर

नवीन पद्धति के कहानी-लेखकों में श्री जैनेन्द्रकुमार का स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी रचनाओं में जीवन की अनुभूतियाँ, विचार-वितर्क और दर्शनिक तथ्यवाद की दूरी दिखाई पड़ती है। भाषा भी तदनुरूप कहीं गतिशील, सरल और व्यावहारिक है; और कहीं उलझी, रूक्ष और विचार प्रधान मिलती है। वाक्य-विन्यास में हिन्दी की मूल प्रकृति से भिन्न उलट-फेर अधिक, शब्द योजना में अंगरेजीपन और विचार-चिन्तन में तर्क का सहारा प्रमुख रहता है। इन विशेषताओं को उनका अपनापन ही मानना चाहिए--दोष का विषय नहीं।

उनकी लिखी कहानियाँ अनेक प्रकार की दिखाई पड़ती है; कहीं इतिवृत्त की प्रधानता रहती है तो कहीं केवल सामान्य कथांश के आधार पर तथ्य-निवेदन मिलता है। उनकी पहली कहानी 'खेल' ही लोगों को प्रभावित करने में पूर्ण सफल रही। उसके उपरान्त तो फिर निरन्तर उनकी रचनाएं प्रकाशित होती रही हैं। कुछ विशेषताएँ अवश्य उनमें ऐसी थीं जो आरम्भ से आज तक एकरस चली आ रही हैं; कथानक का सीधापन, विचार पक्ष का संयोजन और अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण ऐसी ही विशेषताएँ हैं। सामान्य-सी परिस्थितियों और घटनाओं का प्रभाव कभी-कभी, ऐसा पड़ता कि जी में घर कर लेता। 'खेल', 'अपना-अपना भाग्य', 'पाजेब', 'चोर' इत्यादि में उक्त प्रवृत्तियाँ साफ़-साफ़ मिलती हैं। इधर आकर जैनेन्द्र में विचार पक्ष का प्राधान्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

'चोर' कहानी में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का अच्छा प्रतिपादन है। बालकों की मनोवृत्ति सहज रूप में सार ग्राहिणी होती है और उनके नवनीत हृदय में जो संस्कार, छाप या प्रभाव पड़ता है वह स्वच्छ, दृढ़

और एकरस होता है। प्रद्युम्न में चोर के प्रति जो जिज्ञासा, भय, आतंक, उद्वेग हुआ वह बहुत काल तक उसके मस्तिष्क और चेतना पर छाया रहा। अभी वह चोर और चोरत्व की उलझन से छुट्टी नहीं पा सका था तब तक दिलीप ने चोर के विषय में चाक्षुस प्रत्यक्ष की बात कही और तत्पर जिज्ञासु की भाँति प्रद्युम्न दौड़ा उसे देखने के लिए। देख आने पर दिलीप तो उल्लसित रहा पर वह चिन्तित हो उठा है, क्योंकि चोर किसी प्रकार भी तो मानव से कुछ अधिक नहीं दिखाई पड़ा। फिर लोग उससे क्यों इतना घबराते और डरते हैं—इस बात को वह बालक नहीं समझ पाता। बालक की कोमल-मति बुद्धि का यथार्थ चित्रण ही कहानी का प्रतिपाद्य है। वस्तुस्थिति का प्रकृतत्व ही सौन्दर्य का विशेष कारण है।

श्री सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म १८९५ ई० झाँसी जिले में चिरगाँव नामक कस्बे में एक वैश्य घराने में हुआ। आप राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। कवि तथा उपन्यासकार के रूप में आपने बड़ी ख्याति पायी है। 'नारी' आपका एक अतिशय सफल उपन्यास है। आप अधिकतर ग्राम्यजीवन की दैनिक घटनाओं को लेकर अपने साहित्य का विषय बनाते हैं। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है और साहित्य के जिस अंग को आपने स्पर्श किया है उसे चमका दिया है। निबंध और कहानियाँ भी आपने बहुत उच्चकोटि की लिखी हैं। इधर कई वर्षों से दमे से पीड़ित हैं। पर इस पीड़ा में भी आप निरन्तर साहित्य-रचना करते हैं; और हिन्दी साहित्य में आपका बहुत ऊँचा स्थान बन गया है।

आपकी कविता-पुस्तकों में 'आर्द्रा', 'उन्मुक्त', 'पुण्यपर्व' आदि हैं। कहानी-संग्रह 'मानुषी' है। निबन्ध-संग्रह 'झूठ-सच' में सुन्दर, पठनीय निबन्ध हैं।

बैल की बिक्री

कई साल से फ़सलें बिगड़ रही थीं। बादल समय पर पानी नहीं देते थे। खेती के पौधे अकाल वृद्ध होकर असमय में ही मुरझा रहे थे। परन्तु महाजनों की फ़सल का ऐसा हाल न था। बादल ज्यों-ज्यों खिंचते, उनकी खेती में त्यों-त्यों नये-नये अंकुर निकलते थे।

सेठ ज्वालाप्रसाद उन्हीं महाजनों में से थे। विधाता के वर से उनका धन अक्षय था। जिस किसान के पास पहुँच जाता, जीवन-भर उसका साथ न छोड़ता। अपने स्वामी की तिजोरी में निरन्तर जाकर भी दरिद्र झोपड़ी की माया उससे छोड़ी न जाती थी।

मोहन वर्षों से ज्वालाप्रसाद का ऋण चुकाने की चेष्टा में था। परन्तु चेष्टा सफल न होती थी। मोहन का ऋण दरिद्र के वंश की तरह दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता था। इधर कुछ दिन से ज्वालाप्रसाद भी कुछ अधीर-से हो उठे थे। रुपये अदा करने के लिए मोहन के यहाँ आदमी पर आदमी भेज रहे थे।

समय की खराबी और महाजन की अधीरता के साथ मोहन को एक चिन्ता और थी। वह थी जवान लड़के, शिबू की निश्चिन्तता। उसे घर के काम-काज से सरोकार न था। बिल्कुल ही न था, यह नहीं कहा जा सकता। भोजन करने के लिए यथासमय उसे घर आना ही पड़ता था। बापू मजूरी के पैसे लाकर किस जगह रखता है, इसके ऊपर दृष्टि रखनी पड़ती थी। पता मिल जाने पर बीच-बीच में उन्हें सफ़ाई के साथ उड़ाना भी पड़ता था। ऐसे ही और बहुत काम थे। दो-चार बार उसे बैलगाड़ी किराये के लिए चलानी पड़ी थी। सम्भव है, यह बेगार आगे चलकर और अधिक करनी पड़ती। परन्तु हाल में ही यह सम्भावना भी असम्भव हो गई है। अचानक एक दिन दो-चार घंटे की बीमारी से हाल

में ही उसका बैल चल बसा था। इस प्रकार ईश्वर ने उसके स्वच्छन्द विचरण के पथ में एक सुविधा और कर रक्खी थी। घरवालों के साथ उसका वही सम्बन्ध जान पड़ता था, जो खेती के साथ उन बादलों का होता है, जिनके दर्शन ही नहीं होते। यदि कभी होते भी हैं तो आये हुए धान्य को खेत में ही सड़ा देने भर के लिए।

परन्तु बादल चाहे जैसी शत्रुता रक्खें खेती के लिए उनसे प्यारी वस्तु और कोई नहीं होती। मोहन भी शिबू का विचार इसी दृष्टि से करता था। सोचता था, अभी बच्चा है। हमेशा ऐसे ही थोड़े रहेगा! जब वह शिबू की कोई बात आई-गई कर जाता तब उसे अपने मृत पिता की याद आ जाती। उसने भी अपने पिता को कम नहीं खिझाया था। पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सब से बड़ा साधन कदाचित् बच्चे को प्यार करना ही है! शिबू को यथेच्छाचार क्षमा करते समय प्रायः मोहन का हृदय गद्‌गद हो उठता था।

उस दिन कलेवा करके शिबू बाहर निकल रहा था। मोहन ने पीछे से कहा—लल्लू! आज मुझे एक जगह काम पर जाना है। बैल की सार साफ़ करके तुम उसे पानी पिला देना।

शिबू ने बापू की ओर मुड़कर कहा—मुझसे यह बेगार न होगी। मुझे भी एक जगह जाना है।

मोहन जानता था कि काँच की तरह सीधी गरमी दिखाकर इसे झुकाने की इच्छा रखना मूर्खता है। बिनती के स्वर में बोला—बेटा, मुझे काम है। नहीं तो तुझसे कहता क्या? कौन बहुत देर का काम है।

शिबू उसी तरह अविचल कठ से बोला—थोड़ी देर का काम हो या बहुत देर का, मुझे वाहियात कामों की फ़ुर्सत नहीं है।

मोहन झुँझला पड़ा। क्रुद्ध होकर बोला—कैसा है रे! बैल को पानी पिलाना वाहियात काम बताता है। किसानी न करेगा तो क्या बाबू बनकर डाकखाने में टिकट बेचेगा?

"ठीक तो कहता हूँ, नाराज क्यों होते हो ? कितनी बार कहा—इसे बेच दो, अकेला बँधा-बँधा खा रहा है। सार साफ़ करो, पानी पिलाओ, भूसा डालो। इधर से उधर बाँधो, उधर से इधर। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। किसी काम आता हो तो बात भी है।"

"चुप रह ! घर में जोड़ी न होती तो इतनी बातें बनाना न आता। बैल किसान के हाथ-पैर होते हैं। एक हाथ टूट जाने पर कोई दूसरा भी कटा नहीं डालता। मैं इसका जोड़ मिलाने की फ़िक्र में हूँ; तू कहता है—बेच दो। दूर हो, जहाँ जाना हो चला जा। मैं सब कर लूँगा।"

"जा तो रहा ही हूँ। मैं कुछ ऐसा दबैल नहीं हूँ।" हँसकर कहता हुआ शिवू घर के बाहर हो गया। मोहन कुछ देर ज्यों का त्यों खड़ा रहकर, बड़बड़ाता हुआ उठा और जाकर बैल को थपथपाने लगा। शिवू ने उसकी जो अवज्ञा की थी मानो उसकी क्षति-पूर्ति करने के लिए अपने हृदय का समस्त प्यार ढालने लगा।

उस दिन मोहन ने सार की सफ़ाई और अच्छी तरह की। बैल को पानी पिलाने ले गया तो सोचा इसे नहला दूँ। उजड्ड लड़के ने बैल का जो अपमान किया था, उसे वह अपने अन्तस्तल तक से धो देना चाहता था। नहला चुकने पर अँगोछे से पानी अँगोछा। बाँधने की रस्सी को भी पानी से धोना न भूला। सार में बाँधकर भूसा डाला। तब भी मन की ग्लानि दूर न हुई तो भीतर जाकर रोटी ले आया और टुकड़े-टुकड़े करके उसे खिलाने लगा। वह कहा करता था कि जानवर अपनी बात समझा नहीं सकते, परन्तु बहुत-सी बातें आदमियों से अधिक समझते हैं। इसलिए वह अनुभव कर रहा था कि बैल उसके प्रेम को अच्छी तरह हृदयंगम कर रहा है।

इस तरह आज इतना समय लग गया, जितना लगना न चाहिए था। यह बात उसे उस समय मालूम हुई जब ज्वालाप्रसाद के आदमी ने आकर बाहर से पुकारा—मोहन है !

मोहन सुनकर सन्न-सा खड़ा रह गया। उसे शिब्बू पर गुस्सा आया। अगर वह पाजी बैल का उसार कर देता तो वह इस आदमी को घर थोड़े ही मिलता। शंकित मन से बाहर निकलकर बोला—कौन, रामधन भैया! आओ, तमाखू पी लो।

रामधन ने रुखाई से कहा—हमें फुर्सत नहीं है। इसी दम मेरे साथ चलो। तुम-जैसे छँटे हुए आदमी से भी किसी का पाला न पड़ा होगा। तुम्हारे पीछे फिरते-फिरते पैरों में छाले पड़ गये, परन्तु मालिक साहब के दर्शन ही नहीं होते।

सचमुच रामधन के पैरों में छाले पड़े हुए थे, इसीसे उसका मिज़ाज ठीक न था। परन्तु छाले पड़ने का कारण मोहन के पीछे फिरना नहीं था। एक चमार आसामी ने मुफ़्त में जूते बनाकर कुछ दिन के लिए उससे छुट्टी पाने का वचन लिया था। उन जूतों ने रामधन को चलने-फिरने से ही कुछ दिन के लिए छुट्टी देकर अपने निर्माता का लेन-देन बराबर कर देना चाहा। रामधन इस समय उसी चमार को नये-नये शब्दों में याद करता चला आ रहा था। मोहन ने देखते ही समझ लिया, मामला ठीक नहीं है। चुपचाप भीतर से लाकर अँगोछा कन्धे पर डाला और उसके पीछे हो लिया।

रास्ते में मोहन ने फ़सल खराब होने की बात शुरू की। किसानों का गुज़ारा किस तरह हो रहा है, इस बात की ओर संकेत किया। एक पैसे का सुभीता नहीं है, यह भी स्पष्टतः कहा। रामधन मुँह भारी किये हुए सुनता रहा। मानो उसके मुँह में भी छाले पड़ गये थे। जब उत्तर देना नितान्त आवश्यक हो गया, तब संक्षेप में कह दिया—मालिक से कहना।

मोहन ने कहा—हमारे मालिक तो—

"चुप रह बदमाश!"—रामधन ने कहा। कहने का अभिप्राय यह था—मालिक मैं नहीं हूँ। उच्चारण-भंगी का अभिप्राय था—मालिक

हूँ तो मैं।—"बड़ी देर की बकबक लगाये है। चुका नहीं सकता तो कर्ज़ा लिया ही किस लिए था?"

रामधन के साथ वह ज्वालाप्रसाद की कोठी पर जा पहुँचा।

ज्वालाप्रसाद ने अपने स्वर में संसार भर का प्रभुत्व भरकर कहा—वादे बहुत हो चुके। अब हमारे रुपये अदा कर दो, नहीं तो अच्छा न होगा!

मोहन ने कहा—मालिक की बातें! खाने को मिलता नहीं, रुपये कहा से आयें?

बातों ही बातों में ज्वालाप्रसाद की जीभ की ज्वाला बेहद बढ़ उठी। 'नमकहराम', 'सुअर' आदि जितनी उपाधियों से एकदम वह निरीह मण्डित हो उठा, उस सब के लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

मोहन घर न जा सका। रुपये अदा कर दो और चले जाओ, बस इतनी ही बात थी।

शिबू ने तीसरे पहर घर आकर देखा—दद्दा नहीं हैं। मालूम हुआ—सवेरे ज्वालाप्रसाद के आदमी के साथ गये थे। दोपहर को रोटी खाने भी नहीं आये।

शिबू झपाटे के साथ घर से निकल कर ज्वालाप्रसाद के यहाँ जा पहुँचा। बाप को मुँह सुखाये पसीने-पसीने एक जगह बैठा देखा। बोला—चलो। आज रोटी नहीं खानी है?

आवाज़ सुनकर दूर से ज्वालाप्रसाद ने कहा—कौन है, शिबुआ? दाम लाया या यों ही लिवाने आ गया।

शिबू ने अपने कर्कश कंठ को और भी कर्कश करके कहा—तुम अपनी रुपट्टी लोगे या किसी की जान? अरे, कुछ तो दया होती। बूढ़े ने सवेरे से पानी तक नहीं पिया। तुम कम-से-कम चार दफे भोजन ठूँस चुके होगे।

मोहन लड़के का ढंग देखकर घबड़ा उठा। बोला—अरे ढोर, कुछ

तो समझ की बात कर। किस से किस तरह बोलना चाहिए, आज तक तुझे यह शऊर न आया।

"न आने दो। चलो, उठो। मैं तुम्हें यहाँ कसाई की गाय की तरह न मरने दूँगा। रामपुर की हाट में सोमवार को बैल बेचकर उनकी कौड़ी-पाई चुका दूँगा।"—कहकर शिब्बू ने बाप का हाथ पकड़ा और उसे झकझोरता हुआ साथ ले गया।

ज्वालाप्रसाद हतबुद्धि होकर ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। उन्होंने शिब्बू के जैसा निर्भय आदमी देखा न था। उनके मुँह पर ही उन्हें कसाई बनाया गया! गुस्से की अपेक्षा उन्हें डर ही अधिक मालूम हुआ। वे भी उसी हाट में रामपुर जा रहे थे। आजकल डाकुओं का बड़ा ज़ोर था। यह शिबुआ भी तो कहीं डाकुओं में नहीं है? कैसा ऊँचा-पूरा हृष्ट-पुष्ट पट्ठा है! बोलने में किसी का डर नहीं; चलने में किसी का बन्धन नहीं। दिन भर फिर किसी काम में ज्वाला-प्रसाद का मन नहीं लगा। बार-बार उसका तेज-दृप्त चेहरा उन्हें याद आता रहा।

दो दिन में ही ऐसा जान पड़ने लगा—मानो मोहन बहुत दिन का बीमार हो। दिन भर वह बैल के विषय में ही सोचा करता। रात को उठकर कई बार बैल के पास जाता। दिन में और लोगों के सामने अपना प्रेम पूर्ण रूप से प्रकट करते हुए इसे संकोच होता था। रात के एकान्त में उसे अवसर मिलता, बैल के गले से लिपटकर प्रायः वह आँसू बहाने लगता। यदि कभी शिब्बू उसका यह आचरण देख लेता तो उसे ऐसा जान पड़ता मानो वह कोई अपराध कर रहा है।

हाट जाने के एक दिन पहले उसने शिब्बू से कहा—एक बात बेटा, मेरी मानना। बैल किसी भले आदमी को देना जो उसे अच्छी तरह रखे। दो-चार रुपये कम मिलें तो ख़याल न करना।

शिब्बू बिगड़कर बोला—तुम्हारी तो बुद्धि बिगड़ गई है। जब देखो,

"बैल'-'बैल' की रट लगाये रहते हो। मैं मर जाऊँ तो भी शायद तुम्हें बैल के जितना रंज न हो। बैल जिये या भाड़ में जाय, मुझे कोई मतलब नहीं। जो ज्यादा दाम देगा मैं उसी को बेच दूँगा। हमारा खयाल कौन रखता है? मैं भी किसी का न रखूँगा। उस कसाई के रुपये उसके मत्थे मार दूँ, मैं तो इतना ही चाहता हूँ। बस।

मोहन चुपचाप सुनता रहा। थोड़ी देर बाद एक गहरी साँस लेकर वहाँ से हट गया।

जिस समय बैल की रस्सी खोलकर शिबू हाट के लिए जा रहा था, वहाँ मोहन न था। किसी काम के लिए जाने की बात कहकर वह पहले ही बाहर चला गया था।

बैल बेचकर शिबू घर लौटा आ रहा था। रुपये उसकी अंटी में थे। तो भी आज उसकी चाल में वह तेजी नहीं थी, जो जाते समय थी। न जाने कितनी बातें उसके भीतर आ-जा रही थीं। बैल के बिना उसे सूना-सूना मालूम हो रहा था। आज के पहले वह यह बात किसी तरह न मानता कि उसके मन में भी उस क्षुद्र प्राणी के लिए प्रेम था। मनुष्य को अपने आप के विषय में जितना अज्ञान है, कदाचित् उतना और किसी विषय में नहीं है। बार-बार उसे बैल की सूरत याद आती। उसके ध्यान में आता, मानो विदा होते समय बैल भी उदास हो गया था। उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे। बैल का विचार दूर करता तो बाप का सूखा हुआ चेहरा सामने आ जाता। बैल और बाप मानो एक ही चित्र के दो रूप थे। लौट-फिरकर एक के बाद दूसरा उसके सामने आ-आ जाता था। आः! उसका बाप इस बैल को कितना प्यार करता था! उसे अनुभव होने लगा कि वह बैल उसका भाई ही था। एक ही पिता के वात्सल्य-रस से दोनों पुष्ट हुए थे। जो बाप जानवर के लिए इतना प्रेमातुर हो सकता है, वह उसके लिए न जाने क्या करेगा? सोचते-सोचते उसका हृदय पिता के लिए आर्द्र हो उठा। हाय! वह अब तक अपने

तो समझ की बात कर। किस से किस तरह बोलना चाहिए, आज तक तुझे यह शऊर न आया।

"न आनें दो। चलो, उठो। मैं तुम्हें यहाँ कसाई की गाय की तरह न मरने दूँगा। रामपुर की हाट में सोमवार को बैल बेचकर उनकी कौड़ी-पाई चुका दूँगा।"—कहकर शिबू ने बाप का हाथ पकड़ा और उसे झकझोरता हुआ साथ ले गया।

ज्वालाप्रसाद हतबुद्धि होकर ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। उन्होंने शिबू के जैसा निर्भय आदमी देखा न था। उनके मुँह पर ही उन्हें कसाई बनाया गया! गुस्से की अपेक्षा उन्हें डर ही अधिक मालूम हुआ। वे भी उसी हाट में रामपुर जा रहे थे। आजकल डाकुओं का बड़ा ज़ोर था। यह शिबुआ भी तो कहीं डाकुओं में नहीं है? कैसा ऊँचा-पूरा हृष्ट-पुष्ट पट्ठा है! बोलने में किसी का डर नहीं; चलने में किसी का बन्धन नहीं। दिन भर फिर किसी काम में ज्वाला-प्रसाद का मन नहीं लगा। बार-बार उसका तेज-दृप्त चेहरा उन्हें याद आता रहा।

दो दिन में ही ऐसा जान पड़ने लगा—मानो मोहन बहुत दिन का बीमार हो। दिन भर वह बैल के विषय में ही सोचा करता। रात को उठकर कई बार बैल के पास जाता। दिन में और लोगों के सामने अपना प्रेम पूर्ण रूप से प्रकट करते हुए इसे संकोच होता था। रात के एकान्त में उसे अवसर मिलता, बैल के गले से लिपटकर प्रायः वह आँसू बहाने लगता। यदि कभी शिबू उसका यह आचरण देख लेता तो उसे ऐसा जान पड़ता मानो वह कोई अपराध कर रहा है।

हाट जाने के एक दिन पहले उसने शिबू से कहा—एक बात बेटा, मेरी मानना। बैल किसी भले आदमी को देना जो उसे अच्छी तरह रखे। दो-चार रुपये कम मिलें तो ख़याल न करना।

शिबू बिगड़कर बोला—तुम्हारी तो बुद्धि बिगड़ गई है। जब देखो,

'बैल'-'बैल' की रट लगाये रहते हो। मैं मर जाऊँ तो भी शायद तुम्हें बैल के जितना रंज न हो। बैल जिये या भाड़ में जाय, मुझे कोई मतलब नहीं। जो ज्यादा दाम देगा मैं उसी को वेच दूँगा। हमारा खयाल कौन रखता है? मैं भी किसी का न रखूँगा। उस कसाई के रुपये उसके मत्थे मार दूँ, मैं तो इतना ही चाहता हूँ। बस।

मोहन चुपचाप सुनता रहा। थोड़ी देर बाद एक गहरी साँस लेकर वहाँ से हट गया।

जिस समय बैल की रस्सी खोलकर शिबू हाट के लिए जा रहा था, वहाँ मोहन न था। किसी काम के लिए जाने की बात कहकर वह पहले ही बाहर चला गया था।

बैल वेचकर शिबू घर लौटा आ रहा था। रुपये उसकी अंटी में थे। तो भी आज उसकी चाल में वह तेजी नहीं थी, जो जाते समय थी। न जाने कितनी बातें उसके भीतर आ-जा रही थीं। बैल के बिनी उसे सूना-सूना मालूम हो रहा था। आज के पहले वह यह बात किसी तरह न मानता कि उसके मन में भी उस क्षुद्र प्राणी के लिए प्रेम था। मनुष्य को अपने आप के विषय में जितना अज्ञान है, कदाचित् उतना और किसी विषय में नहीं है। बार-बार उसे बैल की सूरत याद आती। उसके ध्यान में आता, मानो बिदा होते समय बैल भी उदास हो गया था। उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे। बैल का विचार दूर करता तो बाप का सूखा हुआ चेहरा सामने आ जाता। बैल और बाप मानो एक ही चित्र के दो रूप थे। लौट-फिरकर एक के बाद दूसरा उसके सामने आ-आ जाता था। आः! उसका बाप इस बैल को कितना प्यार करता था! उसे अनुभव होने लगा कि वह बैल उसका भाई ही था। एक ही पिता के वात्सल्य-रस से दोनों पुष्ट हुए थे। जो बाप जानवर के लिए इतना प्रेमातुर हो सकता है, वह उसके लिए न जाने क्या करेगा! सोचते-सोचते उसका हृदय पिता के लिए आर्द्र हो उठा। हाय! वह अब तक अपने

ऐसे स्नेहशील पिता को भी न पहचान सका। उसके हृदय का औद्धत्य आज अपने आप पराजित हो गया था।

घने वन की छाती पर, पत्थर की पक्की सड़क, दोनों ओर के वृक्षों की छाया का उपयोग करती हुई, निर्जन और बस्ती की परवाह न करके बहुत दूर तक चली गयी थी। दूर-दूर तक आदमी का चिह्न तक दिखाई न देता था। बीच-बीच में कुछ हिरण छलाँगें मारते हुए सड़क पार कर जाते थे। अचानक शिबू ने देखा—एक जगह बहुत-सी बैल-गाड़ियाँ ढिली हुई हैं। एक ओर की निर्धनता के आधार पर ही दूसरी ओर की सघनता अवलम्बित है। मानों यही दिखाने के लिए ऊँची सड़क के दोनों ओर लगातार नीची खंदकें चली गई थीं। दो-तीन सौ आदमी उन खंदकों में चुपचाप दूर तक श्रेणीबद्ध बैठे हुए थे। शिबू ने समझा, सड़क पर पुलिस के आदमी हैं। कुछ वसूल कर लेने के लिए इन आदमियों को परेशान कर रहे हैं। पुलिस का विचार आते ही उसका गर्वित हृदय विद्रोही हो उठा। विचारों की शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। वह तेज़ी से चलने लगा।

"कौन है, खबरदार, खड़ा रह !"

शिबू ने देखा—पुलिस के सिपाहियों की पोशाक में बन्दूकें लिये हुए पाँच आदमी हैं। मुँह कपड़े से इस तरह बाँधे हुए हैं कि सूरत साफ़ दिखाई न दे सके। बीच सड़क पर एक कपड़ा बिछा हुआ है। उस पर रुपये-पैसे और गहनों का ढेर लगा है। शिबू को समझने में देर नहीं लगी—डाकू हैं, सिपाही नहीं। दिन-दहाड़े यहाँ लूट हो रही है। सड़क के नीचे खन्दियों में जो लोग बैठे हैं वे लुट चुके हैं। डाकुओं ने धन के साथ मानो उनकी गति और वाणी भी अपहृत कर ली है।

हाँ तो,—एक डाकू फिर से कड़ककर बोला—कौन है, चला ही आ रहा है ? खड़ा हो जा। रख दे जो कुछ तेरे पास हो।

शिबू ने देखा—अब रुपये जाते हैं। उसे रुपयों का मोह कभी न

था। रुपया-पैसा उड़ाना ही उसका काम था। परन्तु ये रुपये—ये रुपयें किस तरह आये हैं, यह बात वह अभी-अभी अनुभव करता आ रहा था। एक क्षण के एक हिस्से में उसे बाप का सूखा हुआ चेहरा याद आया और दूसरे क्षण उस महाजन का, जिसने रुपये चुकाने के लिए उन्हें तीसरे पहर तक भूखा-प्यासा रोक रखा था। ज्यादा विचार करने का अवसर न था। वह छाती तानकर खड़ा हो गया। बोला—मैं रुपये नहीं दूँगा।

बोलनेवाला डाकू शिबू का सुदृढ़ कंठ-स्वर सुनकर स्तम्भित हो गया। इतने आदमी अभी-अभी लूटे गये हैं; इस तरह तो कोई नहीं कह सका।

दूसरा डाकू बन्दूक का कुंदा मारने के लिए उसपर झपटा। शिबू ने बन्दूक के कुन्दे को इस तरह पकड़ लिया जिस तरह सँपेरे साँप का फन पकड़ लेते हैं। अपने को आगे ठेलता हुआ वह बोला—तुम मुझे मार सकते हो, परन्तु रुपये नहीं छीन सकते। ये रुपये मेरे बाप के कलेजे के खून में तर हैं। मेरे जीते जी महाजन के सिवा इन्हें कोई नहीं ले सकता। यह कहकर शिबू ने अपने पूरे वेग के साथ निकल जाना चाहा। तब तक पाँचों डाकुओं ने घेरकर उसे पकड़ लिया। वह उच्च कंठ से फिर चीत्कार कर उठा—छोड़ दो, मैं रुपया नहीं दूँगा।

शिबू का चीत्कार सुनकर लुटे हुए लोग खंदियों में उठकर खड़े हो गये। देखने लगे—कौन है, जो प्रत्यक्ष मौत का सामना कर रहा है?

डाकुओं ने एकदम देखा—वे केवल पाँच हैं और दो-तीन सौ आदमी उनके विपक्ष में उठ खड़े हुए हैं। उन्हें विस्मय करने का भी अवसर न मिला कि उन्होंने बन्दूक के बल पर एक-एक दो-दो करके इतने आदमी कैसे लूट लिये हैं! यदि ये इसी उजड्ड की तरह बिगड़ खड़े हों तो कौन इनका सामना कर सकता है? भय और साहस संक्रामक वस्तुएँ हैं। शिबू का साहस देखकर उधर लुटे हुए लोगों का भय भी दूर हो रहा था। देखने तक का समय न था, परन्तु डाकुओं ने स्पष्ट देख लिया—एक

साथ सब लोगों के भाव बदल गये हैं। उन लोगों में से कुछ खंदियाँ पार करके सड़क तक भी नहीं आ सके कि डाकू बन्दूकें हाथ में लिये हुए द्रुत गति से सड़क के नीचे उतर गये। लूट का माल उठाने में समय नष्ट करने की अपेक्षा प्राण लेकर भागना ही उन्हें अधिक मूल्यवान् प्रतीत हुआ। थोड़ी ही देर में वे लोग आँखों से ओझल हो गये।

लोगों ने आकर शिवू को चारों ओर से घेर लिया। अधिकाँश स्त्री-बच्चे और पुरुष अब तक भय के मारे काँप रहे थे। रोग की तरह दूर हो जाने पर भी भय शरीर को कुछ समय के लिए निश्शक्त-सा कर रखता है। स्त्रियाँ शिवू को आशीर्वाद दे रही थीं—बेटा, तेरी हज़ारी उम्र हो! परन्तु शिवू इस समय भी अपने आपे में न था। वह सोच रहा था कि इनमें अधिकांश ऐसे आदमी है, जो रुपये के लिए बुरे-से-बुरा काम कर सकते हैं। रुपया ही इनका सब कुछ है। उसी रुपये को इन्होंने इस प्रकार कैसे लुट जाने दिया?

भीड़ में से एक आदमी निकलकर शिवू के पास आया। बोला—कौन हैं, शिवू माते! तुमने आज इतने आदमियों को...

शिवू ने देखा—ज्वालाप्रसाद है। शरीर पर धोती के सिवा और कोई वस्त्र नहीं। डाकुओं ने रुपये पैसे के साथ उसके कपड़े भी उतरवा-कर रखवा लिये थे। उसे देखते ही उसका मुँह घृणा से विकृत हो उठा। अंटी से रुपये निकालकर उसने कहा—बड़ी बात, शिवू माते तुम्हें आज यहाँ मिल गये! लो, अपने रुपये चुकते कर लो। अब लुट जायँ तो मैं जिम्मेदार नहीं।

बैल की बिक्री

यह कहानी रचना-विधान की दृष्टि से उत्तम है। इसमें कथा-तत्त्व के प्रकृत उतार-चढ़ाव के साथ चरित्रांकन के सौन्दर्य की संगति बड़ी अच्छी बैठी है। परिस्थिति-जन्य भाव-परिवर्तन का चित्रण सूक्ष्मता से किया गया है। शिबू जो मूलतः स्वच्छंद, उच्छृंखल, उद्धत और नितांत अविनीत था, वह सूदखोर जमींदार ज्वालाप्रसाद की कठोरता में आबद्ध अपने पिता की दीनस्थिति को देखकर बदल जाता है और दृढ़ निश्चय के साथ उसमें कर्मठता जाग पड़ती है। इस जागरण एवं परिवर्तन में जीवन की आशंका भी बाधा नहीं डाल सकी। उसके निर्भीक उत्साह से ज्वालाप्रसाद भी प्रभावित हो जाता है। इसके अतिरिक्त मोहन के अन्तर्वृत्ति-निरूपण में लेखक की सहृदयता अधिक स्फुट हुई है। सच्चे किसान की सहज सरलता और यथार्थ भावुकता के उद्घाटन में वह पूर्ण सफल हुआ। मोहन वात्सल्यपूर्ण ममत्व की प्रतिमा है। उसकी ममता अपने पुत्र तक ही परिमित नहीं है; उसका प्रसार बैल तक फैल गया है। मोहन अपने सुख-दुःख के साथी बैल के बिछुड़ने से विचलित हो उठता और शिबू ने जो उसके प्रति कठोर वचन कहे उसके निराकरण के लिए जैसी सेवा-तत्परता मोहन ने दिखाई उससे उसके अन्तःकरण की मानवोचित कोमलता प्रकट होती है।

कहानी का आरम्भ सर्वथा विषय के अनुरूप हुआ है। डाकुओं के व्यापार से कुतूहल उत्पन्न होकर कहानी को आद्यन्त रुचिकर बनाये रहता है। निरर्थक विस्तार-संकोच के कारण अन्त अनुमानाश्रित होकर आकर्षण उत्पन्न करने में सहायक है। भाषा वक्रोक्तिमूलक अभिव्यंजना से आपूर्ण है। सर्वत्र वाक्यों की लघुता और सीधेपन के कारण विषय-कथन में स्वच्छता उत्पन्न हो गई है।

भगवतीचरण वर्मा

आपका जन्म सन् १९०३, शफ़ीपुर जिला उन्नाव में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए०, एल-एल बी० हुए। किशोरावस्था में ही आप कविता लिखने लगे थे। चौदह वर्ष की आयु में जब आप सातवीं कक्षा में थे आपकी कुछ कविताएँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुईं। सन् १९२१ में आपकी पहली कहानी 'हिन्दी मनोरंजन' में छपी। परन्तु इस समय आपकी रुचि कविता की ही ओर अधिक थी और पहले-पहल कविता के ही द्वारा ख्याति प्राप्त की। सन् १९३१ से आप कहानी लिखने में प्रवृत्त हुए और शीघ्र ही कहानी-लेखकों में भी अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। कहानियों के दो संग्रह 'इंस्टालमेंट' और 'दो बाँके' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आपने उच्चकोटि के उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें 'चित्रलेखा' विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

दो बाँके

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो; और युक्तप्रान्त में ही नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सारी दुनियाँ में लखनऊ की शोहरत है! लखनऊ के सफ़ेदा आम, लखनऊ के खरबूज़े, लखनऊ की रेवड़ियाँ ये सब चीजें हैं जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात की तौर पर साथ ले जाया करते हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं, और उनमें लखनऊ की जिन्दादिली और लखनऊ की नफ़ासत विशेष रूप से आती हैं।

ये तो वे चीजें हैं, जिन्हें देशी और परदेशी सभी जान सकते हैं। पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिन्हें कुछ लखनऊवाले तक नहीं जानते, और अगर परदेसियों को इनका पता लग जाय, तो समझिये कि उन परदेसियों के भाग खुल गये। इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के 'बाँके'।

'बाँके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवाद-ग्रस्त विषय हो सकता है, और हिन्दीवालों का कहना है—इन हिन्दीवालों में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है; पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'बंकिम' शब्द में कुछ गम्भीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'बाँके' शब्द में एक अजीब बाँकापन है। अगर जवान बाँका-तिरछा न हुआ, तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं। अगर चितवन बाँकी नहीं, तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है; बाँकी अदा और बाँकी झाँकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे ख्याल से अगर दुनियाँ से बाँका शब्द

उठ जाय, तो कुछ दिलचले लोग खुद-कुशी करने पर आमादा होजायँगे। और इसीलिए मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ बाँका शहर है, और इस बाँके शहर में कुछ बाँके रहते हैं, जिनमें गजब का बाँकपन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे—क्याँ यह 'बाँके' है क्या बला? कहते क्यों नहीं? और मैं उत्तर दूँगा कि आपमें सब्र नहीं; अगर इन बाँकों की एक बाँकी भूमिका नहीं हुई, तो फिर कहानी किस तरह बाँकी हो सकती है!

हाँ, तो लखनऊ शहर में रईस हैं, तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बकौल लखनऊवालों के, ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं। लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठीकेदार हैं और ये जान ले लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जायँ, तो लोगों का यह कहना 'अजी लखनऊ तो जनानों का शहर है।' सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहनकर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं, तब लोग-बाग बड़ी हसरत की निगाहों से उन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आधपाव चमेली का तेल पड़ा रहता है, कान में इत्र की अनगिनती फुरहरियाँ खुँसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ शागिर्द—शोहदों का जलूस रहता है, एक-से-एक बोलियाँ बोलते हुए, फब्तियाँ कसते हुए और शेखियाँ हाँकते हुए। उनको देखने के लिए एक हजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नखखास जाना था। पास में पैसे कम थे; इसलिए जब एक नवाब साहब ने आवाज दी 'नखखास' तो मैं उचककर उनके इक्के पर बैठ गया। यहाँ यह बतला देना बेजा न होगा

कि लखनऊ के इक्केवालों में तीन चौथाई शाही खानदान के हैं, और यही उनकी बदकिस्मती है कि उनका वसीका बन्द या कम कर दिया गया, और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नख्खास की तरफ़ चला और मैंने मियाँ इक्केवाले से कहा—

"कहिये नवाब साहब ! खाने-पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं ?"

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहब के उद्गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण स्वर में बोले—"क्या बतलाऊँ हुजूर, अपनी क्या हालत है कह नहीं सकता ! खुदा जो कुछ दिखलायेगा, देखूँगा ! एक दिन थे जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे। ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर करते थे; लेकिन आज हमें—उन्हीं की औलाद को—भूखों मरने की नौबत आ गयी। और हुजूर, अब पेशे में कुछ रह नहीं गया। पहले तो ताँगे चले, जी को समझाया-बुझाया, म्याँ, अपनी-अपनी किस्मत ! मैं भी ताँगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है, मुझे भी फायदा होगा; लेकिन क्या बतलाऊँ हुजूर, हालत, दिनों-दिन बिगड़ती ही गयी। अब देखिये, मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइये हुजूर, जो सुख इक्के की सवारी में है, वह भला ताँगे या मोटर में मिलने का ? ताँगे में पलथी मार कर आराम से बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ रहता है। अजी साहब, हिन्दुओं में मुर्दा उल्टे सिर ले जाया जाता है, लेकिन ताँगे में लोग जिन्दा ही उलटे सिर चलते हैं। और जरा गौर फरमाइये ! ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं; जहाँ जाती हैं, वह बला की धूल उड़ाती हैं कि इन्सान अन्धा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप चलनेवाली सवारी से दूर ही रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।

इक्केवाले नवाब और न जाने क्या-क्या कहते, अगर वे 'या अली !' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रकाबगंज के पुल के पास पहुँचकर रुक गया।

एक अजीब समाँ था। रकाबगंज के पुल के दोनों तरफ़ करीब पन्द्रह हजार की भीड़ थी; लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे करीब पचीस शोहदे लाठी लिये हुए खड़े थे, और दूसरे किनारे भी उतने ही। एक खास बात और थी कि पुल के एक सिरे पर सड़क के बीचोबीच एक चारपाई रखी थी, और दूसरे सिरे पर भी सड़क के बीचोबीच दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुककर दोनों ओर से 'या अली!' के नारे लगते थे।

मैंने इक्केवाले से पूछा—क्यों मियाँ, क्या मामला है?

म्याँ इक्केवाले ने एक तमाशाई से पूछकर बतलाया—हुजूर, आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठा है।

मैंने फिर पूछा—यह क्यों?

म्याँ इक्केवाले ने जवाब दिया—हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरग़ना एक बाँका है और उस पार के शोहदों का सरग़ना दूसरा बाँका। कल इस पार के एक शोहदे से उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया और उस झगड़े में कुछ मार-पीट हो गयी। इस फ़िसाद पर दोनों बाँकों में कुछ कहा-सुनी हुई और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा—लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आई हैं?

"अरे हुजूर! इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी ही होगी; इसमें खून बहेगा और लड़ाई तब तक खत्म न होगी, जब तक एक बाँका खत्म न हो जाय। आज तो एकाध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ उन

बाँकों की लाश उठाने आई हैं। दोनों बाँके अपनी बीबी-बच्चों से रुख़-सत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।

इसी समय दोनों ओर से 'या अली!' की एक बहुत बुलन्द आवाज़ उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनो तरफ़ हाथ में लाठी लिये हुए दोनों बाँके आ गये। तमाशाइयों में एक सकता-सा छा गया; सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पारवाले बाँके ने कड़ककर दूसरे पारवाले बाँके से कहा—उस्ताद!

और दूसरे पारवाले बाँके ने कड़ककर उत्तर दिया—उस्ताद!

पुल के इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज खून हो जायगा, खून!

पुल के उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज लाशें गिर जायँगी, लाशें!

पुल के इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज कहर हो जायगा, कहर!

पुल के उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज क़यामत बरपा हो जायगी, क़यामत!

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पारवाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमाकर एक क़दम बढ़ते हुए कहा—तो फिर उस्ताद होशियार!

पुल के इस पारवाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया—या अली!

पुल के उस पारवाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमाकर एक क़दम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद सम्भलना!"

पुल के उस पारवाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया—या अली!

दोनों तरफ़ से दोनों बाँके, क़दम-ब-क़दम लाठी के हाथ दिखलाते हुए तथा एक दूसरे को ललकारते आगे बढ़ रहे थे ! दोनों तरफ़ के बाँकों के शागिर्द हर क़दम पर "या अली !" के नारे लगा रहे थे, और दोनों तरफ़ के तमाशाइयों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचो बीच, एक दूसरे से दो क़दम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक दूसरे को थोड़ी देर गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों की लाठियाँ उठीं, और दाहिने हाथ से बाएँ हाथ में चली गयीं।

इस पारवाले बाँके ने कहा—फिर उस्ताद !

उस पारवाले बाँके ने कहा—फिर उस्ताद !

इस पारवाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया, और उस पारवाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया। और दोनों के पंजे गुँथ गये।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया—या अली !

फिर क्या था ! दोनों बाँके जोर लगा रहे हैं, पंजा टस-से-मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तक तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे।

इतने में इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद गजब के कस हैं !

उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, बला का जोर है !

इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, अभी तक मैंने समझा था कि मेरे मुकाबिले का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।

उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, आज कहीं जाकर मुझे अपनी जोड़ का जवाँ मर्द मिला !

इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ !

उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेर दिल आदमी की लाश गिराऊँ।

थोड़ी देर के लिए दोनों मौन हो गये; पंजा गुँथा हुआ, टस-से-मस नहीं हो रहा है।

इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, झगड़ा किस बात का है?

उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, यही सवाल मेरे सामने है!

इस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, पुल के इस पारवाले हिस्से का मालिक मैं!

उस पारवाले बाँके ने कहा—उस्ताद, पुल के इस तरफ़वाले हिस्से का मालिक मैं?

और दोनों ने एक साथ कहा—पुल की दूसरी तरफ़ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को!

दोनों के हाथ ढीले पड़े, दोनों ने एक दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाये हुए दोनों बाँके अपने शागिर्दों से आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गयी कि दोनों बाँके बराबर की जोड़ छूटे। और उनमें सुलह हो गयी।

इक्केवाले को पैसे देकर मैं वहाँ से पैदल ही लौट पड़ा, क्योंकि देर हो जाने के कारण नख्खास जाना बेकार था।

इस पारवाला बाँका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे—"उस्ताद, इस वक्त बड़ी समझदारी से काम लिया, वरना आज लाशें गिर जातीं।"—"उस्ताद हम सब-के-सब अपनी जान दे देते!"—"लेकिन उस्ताद, गजब के कस हैं।"

इतने में किसी ने बाँके से कहा—मुला स्वाँग खूब भरयो!

बाँके ने देखा कि एक लम्बा और तगड़ा देहाती जिसके हाथ में एक भारी-सा लट्ठ है, सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

उस वक्त बाँके खून का घूँट पीकर रह गये। उन्होंने सोचा—एक

बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता।

और शागिर्द भी खून का घूँट पीकर रह गये। उन्होंने सोचा—भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक भी है?

दो बाँके

हिन्दी के उपन्यास और कहानी-लेखकों में श्री भगवतीचरण वर्मा अपनी जिन्दादिली अथवा भाव-प्रवणता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके वस्तु एवं विषय के संकलन और चुनाव में बड़ी उद्भावना और बाँकापन रहता है। कथानक के प्रसार में जहाँ संवादों का अवसर आ जाता है वहाँ प्रवाह के साथ यथार्थता का अच्छा चमत्कार दिखाई पड़ता है। भाषा को विषय के अनुरूप सजा देना और वाक्यांशों में यथास्थान आवश्यक बल को केन्द्रित कर देना इनकी अपनी विशेषता है। यह सौन्दर्य उपन्यास और कहानियों में सर्वत्र समरूप से प्राप्त होता है।

सामान्य से विषय को लेकर एक खासी कहानी कह डालनेवाली पटुता इस रचना में मिल जाती है। यहाँ लखनऊ की नाक—शोहदों और उनके सरगनों का सच्चा चित्र खींच दिया गया है। जनानों के शहर की एक बारीक बहादुरी का आँखदेखा विवरण उपस्थित कर लेखक ने अपने तत्पर चित्त पर पड़ी छाप का अच्छा प्रदर्शन किया है। बाँकों के स्वरूप-विन्यास में लेखक ने सूक्ष्म अध्ययन का पूरा परिचय दिया है—एक खासा चित्र सामने ला खड़ा किया है। इसी तरह खान्दानी नवाब इक्केवान के संवाद में भी बाँकी सजीवता उत्पन्न कर दी है। सारी कहानी में यथार्थता अनुस्यूत है और लखनवी समाँ का अमिट वैभव भरा है।

लखनऊ के बाकों की इस विरुदावली के तारतम्य में 'प्रसाद' के गुण्डे को सामने रखकर चलने से एक अद्भुत चमत्कार पैदा होगा और दो शहरों का चारित्र्य पूर्णतया प्रकाशित हो उठेगा। इससे लखनऊ के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट होगी और साहित्यिकता भी पूरी तरह जगेगी।

अज्ञेय

साहित्य के 'अज्ञेय' का वास्तविक नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। आपके पिता डाक्टर हीरानन्द शास्त्री पुरातत्त्व विभाग में उच्चाधिकारी थे और विभाग सम्बन्धी कार्य में देश के प्रायः सभी प्रान्तों में रह चुके हैं। पिता के साथ ही 'अज्ञेय' भी सभी जगह घूम चुके हैं। यों जन्म उत्तर प्रदेश कसिया (गोरखपुर) में और शिक्षा मद्रास तथा पंजाब में हुई। अज्ञेय एक क्रान्तिकारी की हैसियत से युवावस्था में जेल में काफी समय तक रह चुके हैं।

आपका जन्म १६११ में हुआ था। १८ साल की उम्र में बी० एस्-सी० किया। जेल में कविता और कहानियाँ लिखने लगे।

'विशाल भारत' के सम्पादक रह चुके हैं। 'प्रतीक' का संपादन भी किया है। आपका 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास हिन्दी में अपना अलग स्थान रखता है। उसके अतिरिक्त अनेक कहानियाँ, कविताएँ और आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी साहित्य में एक शैलीकार और भाषा-शिल्पी के रूप में आप अद्वितीय हैं।

जय-दोल

लेफ्टिनेंट सागर ने अपना कीचड़ से सना चमड़े का दस्ताना उतार-कर, ट्रक के दरवाज़े पर पटकते हुए कहा, "गुरुंग, तुम गाड़ी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।"

गुरुंग सड़ाक् से जूतों की एड़ियाँ चटकाकर बोला, "ठीक ए सा' ब !"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नवगाँव में रुके रहने के बाद, दोपहर को थोड़ी देर लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगों की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोचकर कि वह कम-से-कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पड़ा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर के मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रुका नहीं, जल्दी से चाय पीकर आगे चल पड़ा। रात जोरहाट में रहे तो सवेरे चलकर सीधे डिब्रूगढ़ जाना होगा, रात शिवसागर में रहकर सवेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर...कैसे सुन्दर नाम हैं। सागर कहलाते हैं तो बड़े-बड़े ताल होंगे...और प्रत्येक के किनारे पर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा!...असमिया लोग हैं भी बड़े साफ़-सुथरे, उनके गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरों का क्या कहना...शिव-दोल, रुद्र-दोल, जय-दोल...सागर-तट के मन्दिर को दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल में, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी में, मन्दिर की कुहासे-सी परछाईं डोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा...इसी उत्साह

को लिये वह बढ़ता जा रहा था...तीस-पैंतीस मील का क्या है...घंटे भर की बात है...

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाड़ी कच्ची सड़क के कीचड़ में फस गयी, पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाड़ी नहीं नाव की पतवार हो, और नाव बड़े-से भँवर में हचकोले खाती झूम रही हो; फिर लेफ्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाड़ी धीमी होकर रुक गयी, यद्यपि पहियों के घूमते रहकर कीचड़ उछालने की आवाज़ आती रही...

इसके लिए साधारणतः तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड़ साफ़ करने की कोशिश हुई, लेकिन कीचड़ गहरा और पतला था, बेलचे का नहीं पम्प का काम था! फिर टायरों पर लोहे की जंजीरें चढ़ायी गयीं। पहिये घूमने पर कहीं पकड़ने को कुछ मिले तो गाड़ी आगे ठिले—मगर चलाने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड़ में डूबने को हो गया...मानो इतना काफ़ी न हो; तभी इंजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फ़टर का शब्द किया और चुप हो गया...फिर स्टार्ट ही न हुआ...

अँधेरे में गुरुंग का मुँह नहीं दीखता था, और लेफ्टिनेंट ने मन-ही-मन संतोष किया कि गुरुंग को उसका मुँह भी नहीं दीखता होगा...गुरुंग गोरखा था और फौजी गोरखों की भाषा कम-से-कम भावना की दृष्टि से गूँगी होती है मगर आँखें या चेहरे की झुर्रियाँ सब समय गूँगी नहीं होतीं...और इस समय अगर उनमें लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनों में मूक वैमनस्य की एक दीवार खड़ी हो जायगी...

तभी सागर ने दस्ताने फेंककर कहा; "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और फिच्च-फिच्च कीचड़ में जमा-जमाकर बूट रखता हुआ आगे बढ़ चला।

कहने को तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में ? बादल फिर घिरने लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर भी तीन-चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नहीं; और जय-सागर तो बड़े बीहड़ मैदान के बीच में है...उसने पढ़ा था कि उस मैदान के बीच में ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनों तक रानी को सारी जनता के सामने सताया और अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाय। पर उस कीचड़ में फिच्च-फिच्च सात मील ! उसी में भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाड़ी के लिए वापस जाना पड़ेगा...फिर नहीं, वह बेकार है। दूसरी सूरत...रात गाड़ी में ही सोया जा सकता है। पर गुरुंग ? वह भूखा ही होगा...कच्ची रसद तो होगी पर बनायेगा कैसे ? सागर ने तो गहरा नाश्ता किया था, उसके पास बिस्कुट वगैरह भी हैं...पर अफ़सरी का बड़ा क़ायदा है कि अपने मातहत को कम-से-कम खाना तो ठीक खिलाये...शायद आस-पास कोई गाँव हो—

कीचड़ में कुछ पता न लगता था कि सड़क कितनी है और अगल-बगल का मैदान कितना। पहिले तो दो-चार पेड़ भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नहीं...दोनों ओर सपाट सूना मैदान था, और दूर के पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहीं चश्मे पर नमी की ही करामात तो नहीं है...अब रास्ता जानने का एक ही तरीका था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क; इधर-उधर हटते ही पिंडलियाँ तक पानी में डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे-धीरे पैर से टटोलकर मध्य में आ जाता था...

यह क्या है ? हाँ, पुल-सा है—यह रेलिंग है। मगर दो पुल हैं सम कोण बनाते हुए...क्या दो रास्ते हैं ? कौन-सा पकड़े ?

एक कुछ ऊँची ज़मीन की ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचे पर कीचड़ कम होगा, इस बात का ही आकर्षण काफी था; फिर ऊँचाई पर से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पड़ा। पुल के पार ही सड़क एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी बन गयी, तनिक आगे इसमें कई मोड़ से आये, फिर जैसे धन-खेतों में कहीं-कहीं कई एक छोटे-छोटे खेत एक-साथ पड़ने पर उनकी मेड़ मानो एक-साथ ही कई ओर जाती जान पड़ती है इसी तरह वह पटरी भी कई ओर को जाती-सी जान पड़ी। सागर मानो एक बिन्दु पर खड़ा है जहाँ से कई ओर कई रास्ते हैं, प्रत्येक के दोनों ओर जल...मानो अथाह समुद्र में पटरियाँ बिछा दी गयी हों...

सागर ने एक बार चारों ओर नजर दौड़ायी। शून्य। उसने फिर आँखों की कोरें कसकर झाँककर देखा, बादलों की रेखा में एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी...बादल ऐसा समकोण नहीं हो सकता। नहीं, यह इमारत है...सागर उसी ओर को बढ़ने लगा। रोशनी नहीं दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यों-ज्यों वह निकट जाता गया उसकी आशा धुँधली पड़ती गयी। वह असमिया घर नहीं हो सकता—इतने बड़े घर अब कहाँ है—फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूस के बासे ही हो सकते हैं, ईंट के घर नहीं—अरे यह तो कोई बड़ी इमारत है क्या हो सकती है?

मानो उसके प्रश्न के उत्तर में ही सहसा आकाश में बादल कुछ फीका पड़ा और सहसा धुँधला-सा चाँद भी झलक गया। उसके अधूरे प्रकाश में सागर ने देखा—एक बड़ी-सी, ऊपर से चपटी-सी इमारत—मानो दुमंजिली बारादरी....बरामदे से, जिसमें कई-एक महराबें; एक के बीच से मानो आकाश झाँक दिया...

सागर ठिठककर क्षण-भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारत को पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओं

का क्रीड़ा-भवन है—क्या नाम है?—रंग-महल, नहीं, हवा-महल—नहीं, ठीक याद नहीं आता, पर यह उस बड़े पठार के किनारे पर है जिसमें जयमती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पास के पानी में जहाँ-तहाँ नरसल के झोंप थे, झुककर फुसफुसा उठे, जैसे राजा के आने पर भृत्यों-सेवकों में एक सिहरन दौड़ जाय...एकाएक यह लक्ष्य कर के कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागर ने घूम कर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नहीं कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिसके नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली, कि चाँद छिप गया, और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रंग-महल या हवा-महल भी खो जाता...

महल में छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद बिस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रक से तो यही अच्छा रहेगा—गाड़ी को तो कोई खतरा नहीं—

सागर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगा।

रंग-महल बहुत बड़ा हो गया था। उसकी कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उसकी ओट छिप जाये। पक्के फर्श पर पैर पड़ते ही सागर ने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी...सीढ़ियाँ चढ़कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते हवा चीख उठी। कई मेहराबों से मानो उसने गुर्राकर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भंग करने वाले?" विरोध के फूत्कार का यह थपेड़ा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं—सागर, आसरा ढूँढ़ता हूँ—रैनबसेरा—।"

पोपले मुँह का बूढ़ा जैसे खिखियाकर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। 'ही—ही—ही—खी—खी—खीः। यह हवा-महल है, हवा-महल—अहोम राजा का लीलागार—अहोम राजा का—व्यसनी, विलासी, छहों

इन्द्रियों से जीवन की लिसड़ी बोटी से छहों रसों को चूसकर उसे झँझोड़-कर फेंक देनेवाले नृशंस लीला-पिशाचों की—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा... ही—ही—ही—खी—खी—खीः !'

सीढ़ियों की चोटी से मेहराबों के तले खड़े सागर ने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलों से, बादलों में बसी नमी और ज्वाला से, स्रवन, वज्र और बिजली से भरा हुआ शून्य ! क्या उसी की गुर्राहट हवा में है, या कि नीचे फैले नंगे पठार की, जिसके चूतड़ों पर दिन भर सड़-सड़ पानी के कोड़ों की बौछार पड़ती रही है ? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट ?

इसी जगह, इसी मेहराब के नीचे खड़े कभी अधनंगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकड़ाकर, सितार की खूँटी की तरह उमेठकर, बायें हाथ के अँगूठे को कमरबन्द में अटकाकर, सीढ़ियों पर खड़े नत-शरीर राजकुमारों को देखा होगा, जैसे कोई साँड़ खसिया बैलों के झुंड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठाकर दाहिने भ्रू को तनिक-सा कुंचित कर के, संकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कड़ी होने दो।

लेफ्टिनेंट सागर की टाँगें मानो शिथिल हो गयीं। वह सीढ़ी पर बैठ गया, पैर उसने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी। उसका शरीर थक गया था दिन भर स्टीयरिंग पर बैठे-बैठे और पौने दो सौ मील तक बनी कीचड़ की सड़क में बनी लीकों पर आँखें जमाये रहने से आँखें भी ऐसे चुनचुना रही थीं मानो उनमें बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करने में क्लेश भी हो—वह आँख खुली रखकर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके, तो...

अहोम राजा चूलिक-फा...राजा में ईश्वर का अंश होता है, ऐसे अन्धविश्वास पालनेवाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक

ही था कि राजकुल का अक्षत शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिसके शरीर में कोई क्षत है, उसमें देवत्व का अंश कैसे रह सकता है ? देवत्व—और क्षुण्ण ? नहीं। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है, और राज-शरीर अक्षत...

अहोम परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासन पर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे, इसके लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अतः सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उसके प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उनके निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाय—हत्या भी न करनी पड़े, मार्ग के रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे, साँप भी मरे नहीं, पर उसके विषदन्त उखड़ जायें। क्षत-शरीर कनकट या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हें राज-घात का लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फा ने सेनापति को बुलाकर गुप्त आज्ञा दी कि रात में चुप-चाप राज कुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काटकर प्रातःकाल दरबार में राज-चरणों में अर्पित किया जाय।

और प्रातःकाल वहीं, रंग-महल की सीढ़ियों पर, उसके चरणों में यह वींभत्स उपहार चढ़ाया गया होगा—और उसने उसी दर्प-भरी अवज्ञा से, ओठों की तार-सी तनी पतली रेखा को तनिक मींड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्तसने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा !

चूलिक-फा—निष्कंटक राजा ! लेकिन नहीं, यह तीर-सा कैसा साल गया ? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत।

लेफ्टिनेंट सागर मानो चूलिक-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका। अक्षत ! भाग गया ?

वहाँ सामने—लेफ्टिनेंट ने फिर आँखों को कसकर बादलों की दीवार को भेदने की कोशिश की—वहाँ सामने कहीं नंगा पर्वत श्रेणी है। वनवासी वीर नंगा जातियों से अहोम राजाओं की कभी नहीं बनी —वे अपने पर्वतों के नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के कौशेय पहनकर भी अध-नंगे रहनेवाले महाराजा, पीढ़ियों के युद्ध के बाद दोनों ने अपनी-अपनी सीमायें बाँध ली थीं और कोई किसी से छेड़-छाड़ नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेश पर पड़नेवाली नमक की झीलों के लिए युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनों को चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नंगा जातियों के सरदार के पास आश्रय पाये—असह्य है! असह्य!

हवा ने साँय-साँय कर के दाद दी...असह्य। मानो चूलिक-फा के विवश क्रोध की लम्बी साँस सागर की देह को छू गयी—यहीं खड़े होकर तो उसने वह साँस खींची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंट में तो उसके सुलगते वायु-कण बसे होंगे?

लेकिन जायेगा कहाँ? उसकी बधू तो है? वह जानेगी उसका पति कहाँ है...उसे जानना होगा! जयमती...अहोम राज्य की अद्वितीय सुन्दरी—जनता की लाड़ली—होने दो! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु-विहीन निष्कंटक राज्य करना चाहता है! जयमती को पति का पता देना होगा—उसे पकड़वाना होगा—चूलिक-फा उसका प्राण नहीं चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बायें हाथ की भी छिगुनी! क्यों नहीं बतायेगी जयमती? वह प्रजा है; प्रजा की हड्डी-चोटी पर भी राजा का अधिकार है!

बहुत ही छोटे एक क्षण के लिए चाँद झलक गया। सागर ने देखा सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार; जिसमें नरसलों की साँय-साँय, हवा का असंख्य कराहटों के साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहराबों की क्रुद्ध साँपों की-सी फुँफकार...चाँद फिर छिप गया

और पानी की नयी बौछार के साथ सागर ने आँखें बन्द कर लीं... असंख्य सहमी हुई कराहें; और पानी की मार ऐसे जैसे नंगे चूतड़ों पर स-दिया प्रान्त के लचीले वेतों की सड़ाक्-सड़ाक्। स-दिया...अर्थात् शव-दिया; कब किसका शव वहाँ मिलता था याद नहीं आता, पर था शव जरूर—किसका शव...

नहीं, जयमती का नहीं। वह तो—वह तो उन पाँच लाख वेत्रस देखनेवालों के सामने एक लकड़ी के मंच पर खड़ी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जा में, अभेद्य मौन में, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धा में लिपटी हुई; सात दिन की भूखी-प्यासी, घाम और रक्त की कीच से लथपथ, लेकिन शेषनाग के माथे में ठुकी हुई कीली की भाँति अडिग, आकाश को छूनेवाली प्रातःशिखा-सी निष्कम्प...

लेकिन यह क्या? सागर तिलमिलाकर उठ बैठा। मानो अँधेरे में भुतही-सी दीख पड़नेवाली वह लाखों की भीड़ भी काँपकर फिर जड़ हो गयी—जयमती के गले से एक बड़ी तीखी करुण चीख निकलकर भारी वायु-मंडल को भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की बर्छी...सागर ने बड़े जोर से मुट्ठियाँ भींच लीं...क्या जयमती टूट गयी? नहीं, यह नहीं हो सकता; नरसलों की तरह बिना रीढ़ के गिरती-पड़ती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खड़ी है, मानवता की ज्योति शलाका...

सहसा उसके पीछे से एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, "मैं राजा हूँ!"

सागर ने चौंककर मुड़कर देखा—सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कंठी और बड़े-बड़े अनगढ़ पन्नों की माला पहने भी, अधनंगा एक व्यक्ति उसकी ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह किनारे के कृमि-कीट को देखे। उसका सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी माँस-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ,

तेल से चमक रही थीं, आँखों की कोर में लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, रोष भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त पिपासा भी...

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती? हुंः, जयमती!" अँगूठे और तर्जनी की चुटकी बनाकर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल-कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है, कम-से-कम राजा का वाक्य...

सागर ने कहना चाहा, "नृशंस! राक्षस!" लेकिन उसकी आँखों की लाली में एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागर ने उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीखने के बाद उसका शरीर ढीला होकर लटक गया था, कोड़ों की मार रुक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी...

सागर ने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धता में उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमती के सामने एक नंगा बाँका खड़ा था, सिर पर कलगी, गले में लकड़ी के मुंडों की माला, मुँह पर रंग की व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमर में घास की चटाई की कौपीन, हाथ में बर्छी। और वह जयमती से कुछ कह रहा था।

सागर के पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फा के विधान में हस्तक्षेप करनेवाला यह ढीठ नंगा कौन है?" पर सहसा उस नंगे व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा और सब चुप हो गये...

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हें देवी मानती है। पर और अपमान क्यों सहो? राजा का बल अपार है—कुमार का पता बता दो और मुक्ति पाओ!"

अबकी बार रानी चीखी नहीं। शिथिल-शरीर, फिर एक बार कराहकर रह गयी।

नंगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमार के प्राण नहीं। एक कान दे देने में क्या है? या छिगुनी? उतना तो कभी खेल में या मल्ल-युद्ध में भी जा सकता है।"

रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"चूलिक-फा डरपोक है, डर नृशंस होता है। पर तुम कुमार का पता बताकर अपनी मान-रक्षा और पति की प्राण-रक्षा कर सकती हो।"

सागर ने पीछे सुना, "हुँ:", और मुड़कर देखा, उस व्यक्ति के चेहरे पर एक क्रूर कुटिल मुस्कान खेल रही है।

सागर ने उद्धत होकर कहा, "हुँ: क्या?"

वह व्यक्ति तनकर खड़ा हो गया, थोड़ी देर सागर की ओर देखता रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे? फिर और भी कुटिल ओठों के बीच से बोला, "मैं, चूलिक-फा, डरपोक! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे काम की कह रहा है—"

नंगा वीर जयमती के और निकट जाकर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। चूलिक-फा ने भी भौं सिकोड़कर कहा, "क्या फुसफुसा रहा है?"

सागर ने आगे झुककर सुन लिया।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नंगा सरदार के पास सुरक्षित है। चूलिक-फा तो उसे पकड़ ही नहीं सकता, तुम पता बताकर अपनी रक्षा क्यों न करो? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेश में सागर खड़ा हो गया, क्योंकि उस कोमल देह में एक बिजली-सी दौड़ गयी और उसने तनकर, सहसा नंगा वीर की ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक—तुम नंगा कैसे हुए? कुमार तो अमर है, कीड़ा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुयेगा? मगर क्या लोग कहेंगे, कुमार की रानी जयमती ने देह की यन्त्रणा से घबड़ाकर उसका पता बता दिया? हट जाओ, अपना कलंकी मुँह मेरे सामने से दूर करो!"

जनता में तीव्र सिहरन दौड़ गयी। नरसल बड़ी ज़ोर से काँप गये;

गँदले पानी में हलचल उठी जिसके लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये; हवा फुँफकार उठी, बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई। मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणा की रात—सातवीं रात, कि नवीं रात? और जयमती क्या अब बोल सकती है, क्या यह उसके दृढ़ संकल्प का मौन है, कि अशक्तता का? और यह वही भीड़ है कि नयी भीड़, वही नंगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीड़ में कई नंगे बिखरे हैं ...

चूलिक-फा ने कटु स्वर में कहा, "फिर आया वह नंगा?"

नंगा वीर ने पुकारकर कहा, "जयमती! रानी जयमती!"

रानी हिली-डुली नहीं।

वीर फिर बोला, "रानी मैं उसी नंगा सरदार का दूत हूँ, जिसके यहाँ कुमार ने शरण ली है। मेरी बात सुनो!"

रानी का शरीर काँप गया। वह एकटक आँखों से उसे देखने लगी, कुछ बोली नहीं। सकी नहीं।

"तुम कुमार का पता दे दो। सरदार उसकी रक्षा करेंगे। वह सुरक्षित है।"

रानी की आँखों में कुछ घना हो गया। बड़े कष्ट से उसने कहा, "नीच!" एक बार उसने ओठों पर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा पर सकी नहीं।

चूलिक-फा ने वहीं से आदेश दिया, "पानी दो इसे—बोलने दो!"

किसी ने रानी के ओठों की ओर पानी बढ़ाया। वह थोड़ी देर मिट्टी के कसोरे की ओर वितृष्ण दृष्टि से देखती रही, फिर उसने आँख भरकर नंगा युवक की ओर देखा, फिर एक घूँट पी लिया। तभी चूलिक-फा ने कहा "बस, एक-एक घूँट, अधिक नहीं!"

रानी ने एक बार दृष्टि चारों ओर लाख-लाख जनता की ओर दौड़ायी। फिर आँखें नंगा युवक पर गड़ाकर बोली, "कुमार सुरक्षित है।

और कुमार की यह लाख-लाख प्रजा—जो उनके लिए आँखें बिछाये है—एक नेता के लिए जिसके पीछे चलकर आततायी का राज्य उलट दे—जो एक आदर्श माँगती है—मैं उसकी आशा तोड़ दूँ—उसे हरा दूँ—कुमार को हरा दूँ !"

वह क्षण-भर चुप हुई। चूलिक-फा ने एक बार आँख दौड़ाकर सारी भीड़ को देख लिया। उसकी आँख कहीं टिकी नहीं...मानो उस भीड़ में उसे टिकने लायक कुछ नहीं मिला, जैसे रेंगते कीड़ों पर दीठ नहीं जमती...

नंगा ने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फा की है न ?"

रानी ने फिर उसे स्थिर दृष्टि से देखा। फिर धीरे-धीरे कहा—"चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भाव से नाम अधूरा छोड़ दिया कि उसके उच्चारण से मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमार की है—जाकर नंगा सरदार से कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गयी। पर तू—तू तो नंगा नहीं, तू तो उस—उस गिद्ध की प्रजा है—जा उसके गन्दे पंजे को चाट !

रानी की आँखें चूलिक-फा की ओर मुड़ीं पर उसकी दीठ ने उसे छुआ नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीज की ओर आँखें चढ़ाने में भी घिन आती है...

नंगा ने मुस्कराकर कहा, "कहाँ है मेरा राजा !"

चूलिक-फा ने वहीं से पुकारकर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्य का एकछत्र शासक !"

नंगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड़ का रंग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीड़ में जगह-जगह नंगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपन में भी एक माप...

नंगा ने पास से कहा, "मेरे राजा !"

एकाएक बड़े जोर की गड़गड़ाहट हुई। सागर खड़ा हो गया...उसने आँखें फाड़कर देखा, नंगा युवक सहसा बर्छी के सहारे कई-एक सीढ़ियाँ फाँदकर चूलिक-फा के पास पहुँच गया है, बर्छी सीढ़ी को ईंटों की दरार में फँसी रह गयी है, पर नंगा चूलिक-फा को धक्के से गिरा कर उसकी छाती पर चढ़ गया है; उधर जनता में एक बिजली कड़क गयी है, "कुमार की जय!" किसी ने फाँदकर मंच पर चढ़कर कोड़ा लिये जल्लादों को गिरा दिया है, किसी ने अपना अंग-वस्त्र जयवती पर डाला है और कोई उसके बन्धन की रस्सी टटोल रहा है...

पर चूलिक-फा और नंगा...सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा था; उसकी दीठ चूलिक-फा पर जमी थी...सहसा उसने देखा, नंगा तो निहत्था है, पर नीचे पड़े चूलिक-फा के हाथ में एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नंगा के कान के पीछे साध रहा है—नंगा को ध्यान नहीं है, मगर चूलिक-फा की आँखों में पहचान है कि नंगा और कोई नहीं, स्वयं कुमार है; और वह डाओ साध रहा है...

कुमार छाती पर है, पर मर जायगा...या क्षत भी हो गया तो... चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक-फा का हाथ पकड़ लेगा...डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उसका कीचड़-सना बूट सीढ़ी पर फिसल गया और वह लुढ़कता-पुढ़कता नीचे जा गिरा।

अब ! चूलिक-फा का हाथ सध गया है, डाओ पर उसकी पकड़ खड़ी हो गयी है, अब—

लेफ्टिनेंट सागर ने वहीं पड़े-पड़े कमर से रिवाल्वर खींचा और शिस्त लेकर दाग दिया...धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यों नहीं? आग लग गयी—रंग-महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड़ रही हैं। चूक्या लिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमार की जयध्वनि

है ? कि जयमती की—यह अद्भुत, रोमांचकारी गूँज, जिसमें मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नहीं, उसे सँभलना होगा।

* * *

लेफ्टिनेंट सागर सहसा जागकर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का होकर चारों ओर देखा, फिर उसकी बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूर से दो ट्रकों की दो जोड़ी बत्तियाँ पूरे प्रकाश से जगमगा रही थीं, और एक से सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रंग-महल की सीढ़ियों को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलों से पृथ्वी तक किसी वज्र-देवता के उतरने का मार्ग खुल जाता हो। दोनों ट्रकों के हार्न पूरे जोर से बजाये जा रहे थे।

बौछार से भीगा हुआ बदन झाड़कर लेफ्टिनेंट सागर उठ खड़ा हुआ। क्या वह रंग-महल की सीढ़ियों पर सो गया था ? एक बार आँखें दौड़ाकर उसने मेहराब को देखा, चाँद निकल आया था, मेहराब की ईंटें दीख रही थीं। फिर धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचे से आवाज आयी, "सा'ब", दूसरा गाड़ी आ गया, टो करके ले जायगा ?"

सागर ने मुँह उठाकर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस ताल चमक रहा था, जिसके किनारे पर मन्दिर, भागते बादलों के बीच में काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनी से ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानी के अभिमान का प्रतीक, जिसने राजा को बचाया, या एक नारी के साहस का, जिसने पुरुष का पथ-प्रदर्शन किया; या कि मानव मात्र की अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणा का अभीत, अजेय, जय-दोल ?

जय-दोल

रचना-विधान की परम्परागत पद्धतियों से पूरा पड़ता न पाकर आज के कुछ नवोद्भूत कलाकार नवीन प्रयोगों की ओर जो प्रवृत्त हो रहे हैं उससे भाषा और साहित्य का भाण्डार अधिक समृद्ध हो रहा है। संभव है इन नवोन्मेषमयी विविध भंगिमाओं के सौन्दर्यास्वादन में अभी कुछ व्याघात पड़े और विषयस्थापन की वक्रता से अपरिचित होने के कारण सामान्य पाठक पूरा-पूरा आनन्द न प्राप्त कर सकें, अथवा रचना को ध्यानपूर्वक एक से अधिक बार पढ़ना पड़े; पर इन लेखकों की रचनात्मक गति-विधि को समझ लेने पर बात ऐसी नहीं रहेगी। प्रयोगवाद के इन प्रेमियों को भी थोड़ा सावधान होकर लिखना होगा और शाब्दी व्यंजना का अभाव बचाना पड़ेगा अन्यथा अन्धकार में गड़बड़ होने का भय है।

श्री 'अज्ञेय' अब तक कहानी और उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी इस कहानी में इतिवृत्त उपस्थित करने की नवीन प्रणाली दिखाई पड़ेगी। आरम्भ में तो प्रदर्शगत यथार्थ चित्रण का सौन्दर्य है और कथा साधारण गति से चलकर परिस्थिति की विशेषता में परिणत हो जाती है। लेफ्टिनेंट सागर धुँधली-सी दिखाई पड़ने वाली इमारत में—थकाथकाया पहुँचकर अपनी आकांक्षाओं और भावनाओं में लिपटा हुआ तंद्रिल हो उठता है। फिर तो गत इतिहास की बातें क्रम से घटित होती हुई-सी दिखाई पड़ती हैं और जय-दोल की निर्मिति का सम्पूर्ण वृत्त साकार होकर उसके सामने खड़ा हो जाता है। गत का यही वर्तमानीकरण सौन्दर्य का विषय है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रेमचन्द और सुदर्शन की भाँति 'अश्क' भी उर्दू से हिन्दी के लेखक बने। १९३३ में प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में 'हंस' में आपकी पहली कहानी हिन्दी में प्रकाशित हुई। तब से बराबर आप हिन्दी में कहानी, कविता, एकांकी आदि लिखते रहे हैं। बीच में आप दिल्ली रेडियो तथा बम्बई में सिनेमा के लिए भी लिखते रहे। बम्बई में अत्यन्त रुग्ण रहे पर स्वस्थ होकर प्रयाग में नीलाभ प्रकाशन गृह आरम्भ कर अपनी पत्नी कौशल्या के साथ पुस्तक प्रकाशन में संलग्न हैं।

१९१० में आपका जन्म जालंधर (पञ्जाब) में हुआ था। बी० ए० और वकालत की परीक्षाएँ पास की हैं।

३२४

मोटर अड्डे पर आकर रुकी। कुलियों की दुनिया में हलचल मच गई। बैठे हुए खड़े हो गये, खड़े दौड़ पड़े, मानो धन की वर्षा हो गई हो, कोई स्वर्गीय विभूति उनके मध्य में आ गिरी हो। मिनटों में मैले, फटे, जर्जर कपड़े पहने बीसियों कुली मोटरों को घेरकर खड़े हो गये। बहुतों ने अपने पीतल के नम्बर भी मोटर में फेंक दिये।

मोटर में बैठे हुए मिस्टर वाल्टन और उनका छोटा-सा कुनबा पीतल के टुकड़ों की उस वर्षा से घबरा उठा। दूसरे क्षण कुमारी वाल्टन तुनककर मोटर में खड़ी हो गई। उसकी युवा आँखों में क्रोध के डोरे दौड़ गये, रोष से मुख सुर्ख हो गया। उसने सब नम्बरों को उठाया और कुलियों के मुँह पर दे मारा। एक पीतल का नम्बर वाल्टन साहब की गोद में पड़ा था। उसे उठाते हुए ज्यों ही कुमारी वाल्टन ने फेंकने के लिए हाथ उठाया कि एक कुली— सुन्दर, युवा, बलिष्ठ—दूसरों को हटाते हुए मिस वाल्टन के सामने आ खड़ा हुआ—कुछ वे-परवा-सा, कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा, कुछ व्यथित-सा। युवती की सरोष आँखें उसकी करुण आँखों से चार हुईं। उसने नम्बर नहीं फेंका, और चुप अपनी जगह पर बैठ गई। कुली और समीप आकर मोटर के पास खड़ा हो गया। साहब अपनी पत्नी को लेकर दूसरे दरवाज़े से उतर गये।

कुमारी वाल्टन ने सिर से पाँव तक उस कुली को देखा और दूर तक निगाह दौड़ाई। इन चीथड़ों में लिपटे हुए आधी नंगी टाँगों और भुजाओंवाले कुलियों में, जिनके पैरों में सेर-डेढ़ सेर की वेडौल-सी चप्पल पड़ी हुई थी और घुटनों तक मैल चढ़ा हुआ था, जिनके चेहरों की आकृति शुष्क और सख्त थी, और जिनकी आँखों के पपोटे धूल से स्याह हो रहे थे—इन सब कुलियों में कौन उस जैसा दिलेर, कौन

उस जैसा सुन्दर, कौन उस जैसा बलिष्ठ था ? उसने देखा, कुली की गोरी-गोरी बाहों पर ज्यादह बोझ उठाने के कारण मछलियाँ पड़ गई हैं और नीली-नीली नसें फूल उठी हैं। उसके सिर पर टोपी नहीं थी। गले में एक साफ़, लेकिन आस्तीन और गरेबाँ की कैद से स्वतन्त्र, कुर्ता पड़ा हुआ था।

"तुमारा नाम ?"

"३२४"

"नम्बर नहीं, नाम।"

"हैदर।"

"हैडर ! कितना बोझ उठा सकेगा ?"

"बहुत काफ़ी मिस साहब।"

ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला। कुमारी वाल्टन खट-खट नीचे उतर गई।

"वह प्यानो उठा सकेगा ?" उसने मुस्कराते हुए कहा।

हैदर ने अपना दृष्टि उस ओर उठाई और मुख पर बिखरे हुए बालों की लटों को परे हटाया। दूसरे मोटर में वह बड़ा प्यानो रखा था और चार-पाँच कुली उसे नीचे उतारने का प्रयास कर रहे थे।

उसने उत्तर दिया—"हाँ, उठा लूँगा।"

यह कहते समय उसे प्यानो के वज़न का ध्यान आया, किन्तु इसके साथ ही उसकी आँखों के सम्मुख अपने घर की बेबसी की तसवीर खिंच गई, साथ ही उसे अपनी बात का भी ध्यान आया। अब इनकार कर उस सुन्दर लड़की की नज़रों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था। वह आगे बढ़ा।

सुरीली तानें अलापनेवाला प्यानो, जिसके लिए कुमारी वाल्टन एक कमरा अलहदा कर दिया करती थी, उतारकर धरती पर रख दिया गया और दो-तीन 'हातो'* उसे उठाने के लिए तैयार हुए।

*शिमला में काश्मीर और नाहन के कुली 'हातो' कहलाते हैं।

"इसे यह कुली उठायगा", कुमारी वाल्टन ने आगे बढ़कर कहा। साहब ने हैदर पर नख से शिख तक दृष्टि डाली और बोले—यह अकेला !

"हाँ।" और मुस्कराती हुई हैदर की ओर देखकर कुमारी वाल्टन बोली—क्यों उठायगा अकेला ? हम ईनाम बी डेगा।

हैदर का सीना फूल उठा—हाँ, मिस साहब। हाँ कहकर न कहना जवानी ने नहीं सीखा।

"टीन माईल जायगा ?"

"ले जाऊँगा।"

"हम टुम्हें बहुट ईनाम डेगा।" और उत्सुक नज़रों से कुमारी वाल्टन उस बलवान् कुली की ओर देखने लगी। देखते-देखते हैदर ने प्यानो के इर्द-गिर्द रस्सा लपेट लिया। जो 'हातो' उसे उठाने के लिए आगे बढ़े थे, पीछे हट गये। दो आदमियों की सहायता से हैदर ने प्यानो पीठ पर लाद लिया। उसकी कमर दोहरी हो गई, माथे पर पसीना आ गया। अपनी छोटी-सी लठिया के सहारे वह चल पड़ा।

"मर जायगा ससुरा !" एक हातो ने कहा।

पों पों करती हुई दूसरी मोटर-गाड़ी आ खड़ी हुई और सब उसकी ओर दौड़ पड़े।

कुमारी वाल्टन वहाँ खड़ी-की-खड़ी रह गई। वह सोच रही थी—'इतना बड़ा प्यानो, जिसे चार आदमी कठिनाई से उठा पाते हैं, इस अकेले हैदर ने उठा लिया। यह योरप में होता, तो बोझ उठाने का रिकार्ड मात करके सहस्रों रुपये कमा लेता। उसके युवा-हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। परन्तु यह सहानुभूति उसके फटे कपड़ों, उसके व्यथित मुख, उसकी बेबसी को देखकर नहीं पैदा हुई थी। वह उस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती थी, जहाँ ये बातें सहानुभूति खरीदने के बदले उपेक्षा मोल लेती हैं। पर बहादुर से, सुन्दर से

हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में—वह हृदय चाहे अँग्रेज रमणी का हो अथवा भारतीय का।

रिक्शा उसके समीप आकर खड़ी हो गई। वाल्टन साहब ने तीन रिक्शाओं के लिए आर्डर दिया था। कुमारी वाल्टन सबसे अगली रिक्शा में बैठ गई, उससे पिछली में उसकी मा। सबसे अन्तिम रिक्शा में साहब स्वयं बैठे। पाँच-सात कुली दूसरा सामान उठाकर साथ-साथ चलने लगे।

वाल्टन साहब रिटायर्ड इञ्जीनियर थे। पेन्शन मिलती थी। कुनबा भी बड़ा नहीं था, मज़े से बसर होती थी। शिमले में उन्होंने दो-तीन कोठियाँ बनवा ली थीं। किराया भी आ जाता था। उनकी निजी कोठी का नाम 'कैनमोर काटेज' था। वह छोटे शिमले से ज़रा दूर एक सुरम्य जगह में बनी हुई थी। आगे छोटी-सी वाटिका थी। अपना फ़ुर्सत का समय वाल्टन साहब भाँति-भाँति के पौधे लगाने में बिताते थे। उन्हें इसमें बड़ा आनन्द मिलता था। कभी-कभी उनकी पुत्री भी इस काम में हाथ बँटाती। उसे अपने ही अनुरूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। एक माली भी रखा हुआ था, परन्तु वह सर्दियों में बगीचे की देख-भाल करता। गर्मियों में साहब स्वयं दिल्ली से आ जाते; तब उनका क़ाफ़ी समय अपने बग़ीचे में ही बीतता।

कुमारी वाल्टन को प्यानो बजाने में कमाल हासिल था। जहाँ एक-दो महीनों के लिए जाना होता, वहीं उसे वह ले जाती। वह प्यानो उसने खास तौर पर विलायत से मँगवाया था। साधारण प्यानो से वह तिगुना बड़ा था। सुरीला इतना था कि जब कुमारी वाल्टन का मीठा स्वर उससे मिल जाता, तब सोने पर सुहागा हो जाता! सर्दियों में वह छोटा कुनबा दिल्ली चला जाता और गर्मियों में शिमले आ जाता।

हैदर साँस लेने के लिए रुका। शिमले में सड़कों के किनारे सीमेंट के चबूतरे बने हुए हैं, ताकि कुली लोग वहाँ बोझ रखकर सुस्ता लिया

करें। कुमारी वाल्टन अपने विचारों में मग्न थी। हैदर को रुकते देखकर रिक्शा से कूद पड़ी। साहब और उनकी पत्नी उससे बहुत आगे निकल चुके थे। उसने हैदर से कहा—क्यों ठक गया, कहा था मत उठाओ। तुम ठक जायगा, लेकिन माना नहीं।

हैदर बिना विश्राम किये फिर चल पड़ा। किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना!

"शाबाश!" कुमारी वाल्टन उसके साथ चलती हुई बोली—टुमने हमको बहुत खूश किया। अगर टुम आराम लिये बिना इसे बँगला टक ले गिया तो हम टुम्हें बहूट ईनाम डेगा, जो माँगेगा वह डेगा।

बायें हाथ में लठिया पकड़कर उसके सहारे रुककर हैदर ने दायें हाथ से मस्तक से पसीना पोंछा और चल पड़ा। उसके पाँव मन-मन भर के हुए जाते थे। उसके समस्त शरीर से पसीना छूट रहा था। अपनी ज़िन्दगी में उसने अभी तक इतना बोझ नहीं उठाया था। किन्तु मिस साहब प्रसन्न हो गई थीं। यदि वह इस प्यानो को वहाँ तक पहुँचा देगा, तो वह अवश्य ही उसे दो-तीन रुपए देंगी; हो सकता है, उसे अपने यहाँ नौकर ही रख लें। तब तो उसका जीवन बन जाय, वह अमीना को सुख दे सके। अपनी उस प्यारी अमीना को, जिसने उसके लिए अमीरी से ग़रीबी मोल ली थी; अपने धनवान् माता-पिता को छोड़कर सुख-भोग को लात मारकर जो उसके साथ हो ली थी और जो उससे कितनी मुहब्बत करती थी। उसे सब याद था—वह दिन जब लाहौर में स्टेशन से सामान उठाकर वह एक गली के बड़े-से मकान में ले गया था और बुरके को उठाकर हश्र बरपा कर देनेवाली दो आँखों ने उसे देखा था। उसे याद था कि किस तरह वे आँखें उस पर मेहरबान हो गई थीं, किस तरह उसे आँखों ही आँखों में मुहब्बत का सन्देश मिला था, किस भाँति उसने कुली का काम छोड़ वहाँ उसी गली में पान की दूकान की थी। किस तरह अमीना उसके साथ भाग आई थी और किस तरह कैद से

बचाने के लिए उसने भरी अदालत में उसके साथ रहने का प्रण किया था। सब—वे दिन, वे रातें, वे घड़ियाँ, वे पल, मुहब्बत के, प्यार के, दुखः के, सन्तोष के—कल की बात की नाईं याद थे। वह कमाता था अमीनना को सुख देने के लिए, अपनी उसे कुछ परवाह न थी। वह सोचता, यदि मेरे पास कुछ रुपया होता, कुछ थोड़ा-बहुत ही, तो अमीना को लेकर फिर कहीं दूर किसी छोटे से कस्बे में कोई दूकान कर लेता। लेकिन रुपया आता कहाँ से? अमीना के साथ भागने के बाद उसकी रही-सही पूँजी भी उड़ गई थी, और विवश होकर उसे फिर श्रमजीवी बनना पड़ा था। वह दिन में दो रुपया कमा लेता। उसके शरीर में शक्ति थी, भुजाओं में बल था। कश्मीर और नाहन के हातो भी उसे बोझ उठाते देखकर दंग रह जाते—अमीना कहती—"मुझे तुम्हारे साथ सूखी रोटी पसन्द है। तुम बहुत कष्ट न सहा करो।" परन्तु वह उसकी बातों पर कान न देता। उसे एक ही धुन थी, एक ही लगन थी, कुछ रुपया-पैसा पैदा करना और बस—उसके बाद इस पेशे को सदैव के लिए छोड़ देगा। अमीना उसके कपड़े धो देती। जब वह सन्ध्या को थककर आता, तब उसके पाँव दबाती। सहस्रों व्यय करने पर भी ऐसी पतिपरायणा स्त्री न मिलती। वह उसे पाकर भी सुखी न था। जब वह देखता कि उसकी अमीना उस अँधेरे में सारा दिन बन्द रहने से पीली हुई जा रही है, तब उसका हृदय खून के आँसू रोता। वह उसे शीश महलों में, मरमर के प्रासादों में, रेशमी वस्त्रों से आवृत रखना चाहता था, पर उसकी आकांक्षाएँ उस बेपर पंछी की आशाओं की तरह थीं, जो गहरे खड्ड में गिरकर ऊपर पहाड़ की चोटी पर उड़ना चाहता हो। हैदर ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। बोझ के कारण उसका सीना दुख उठा। उसे ज्ञात था, इस समय जब वह बोझ उठाये चला जा रहा है, अमीना भी काम करती होगी। उसने गलीचा बुनना सीखा था। दोनों कुछ रुपया पैदा करना चाहते थे, जिससे कोई काम कर सकें।

उन्हें आशा थी कि इस वर्ष के बाद तक उनके पास छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ करने के लिए पर्याप्त धन हो जायगा।

हैदर सोच रहा था—"कौन जाने यह लड़की प्रसन्न होकर मुझे अपने यहाँ किसी काम पर नौकर रख ले? उस सूरत में मेरी अभिलाषा बहुत जल्दी पूरी हो जायगी। अभी हमें कमरे का किराया भी देना पड़ता है और खर्च भी बहुत होता है। फिर रोटी और रहायश का ग़म न रहेगा। थोड़ा-बहुत सरमाया जमा कर लेंगे और तब किसी छोटे-से नगर में जाकर बसेंगे। मैं हूँ और अमीना का अटूट प्रेम और बस। इस भाँति यह जीवन-लीला समाप्त हो जाय।' पर यह प्यानो वहाँ पहुँच भी सकेगा? यदि वह सुस्ता लेता, तो शायद पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील चलना सर्वथा असम्भव है। मोटरों के अड्डे से सड़क पर आते-आते ही उसके प्राण सूख गये थे। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। उसने सोचा, प्यानो रख दूं।

उसी समय कुमारी वाल्टन ने कहा—शाबाश हैडर, शाबाश! टुम प्यानो को बँगला टक पहुँचा गया, टो बहुट इनाम डेगा। डस रुपया डेगा, बीस रुपया डेगा।

सुनकर हैदर के मुर्दा शरीर में जान पड़ गई। आशा ने फिर संजीवनी का काम किया—वह फिर चल पड़ा।

वह रिक्शा छोड़कर उसके साथ चली आ रही थी। तेरह-चौदह वर्ष की आयु, पतली-सी कमर, शरीर के साथ चिपटा हुआ फ्राक, लम्बा क़द ऊँची एड़ी के कारण उठे हुए छोटे-छोटे पाँव, गोरी बाँह, तीखे नक़्श और मुख पर उत्सुकता। इस तरह चली आ रही थी, मानो हैदर को नहीं, उसे ही इनाम जीतना हो। वह सोचती, इतना बहादुर भी कहाँ। यह पुरुष जहाँ भी जायगा, नाम पायगा। सेना में भरती हो जाता, तो अब तक कप्तान बन जाता। फुटबाल खेलता, तो कोई उसका मुक़ाबला न कर सकता। इतना बोझ! इसे उठाना ही बड़ा काम है, फिर इसे

उठाकर तीन मील चलना ! उसने हैदर की ओर एक स्नेह भरी दृष्टि डाली। वह उसे अपना सब कुछ दे दे। इस बहादुर कुली पर निसार होने के लिए उसका हृदय बेताब हो उठा।

एक साहब थे ब्राउन। कुमारी वाल्टन की मोहब्बत का दम भरते थे। उसे ख़याल आया, यदि उनको यह प्यानो उठाना पड़े, तो उनका कचूमर ही निकल जाय। इस विचार के आते ही उसके लाल अधरों पर मुसकराहट दौड़ गई।

"शाबाश हैडर !" उसने हैदर को रुकते हुए देखकर कहा और फिर ध्यान में मग्न हो गई। कभी-कभी कोई व्यक्ति हैदर को अकेले इतना बड़ा प्यानो उठाये और अँग्रेज़ युवती को उसके साथ इस भाँति जाता देखकर आश्चर्य से एक क्षण के लिए खड़ा हो जाता और फिर अपनी राह चला जाता।

छोटे शिमले का डाकख़ाना आ गया था। हैदर को टाँगें जवाब देती हुई प्रतीत हुईं, उसे अपने हवास गुम होते हुए दिखाई दिये। बस, इससे आगे वह न जा सकेगा। इतना दूर तक ही वह कैसे आ गया। वह इसी पर विस्मित था। अब आगे न जाया जायगा। उसके पाँवो में शक्ति ही नहीं, उसके शरीर में जान ही नहीं। उसकी आँखें बन्द-सी हुई जाती थीं। उसे अपने स्वप्नों के समस्त गढ़ गिरते हुए प्रतीत हुए।

उस समय कुमारी वाल्टन की मीठी, मधुर, मादक सहानुभूति से युक्त, जीवनदायिनी आवाज़ सुनाई दी।

"हैडर थक गया ? बस, दो फ़र्लांग और तुम जीट जायगा," लेकिन हैदर नहीं हिला।

कुमारी वाल्टन को अपनी कल्पनाओं का प्रासाद गिरते दिखाई दिया। यदि हैदर वह बाज़ी न जीत सका, तो यह सब श्रद्धा, जो उसके हृदय में उसके लिए पैदा हुई थी, उड़ जायगी। उसने फिर एक बार कहा—

"हैडर, हम तुम्हारे लिए सब कुछ. करेगा, तुम्हें सेना में भर्ती करा,

डेगा, तुम्हें नौकर रख लेगा, तुम्हें प्यार करेगा। बस, डो फर्लांग, बक अप, बक अप!" और हैदर चल पड़ा, जैसे कुमारी वाल्टन के स्वर में बिजली का असर हो।

बँगला आ गया। माली और नौकरों ने दौड़कर उसका स्वागत किया। एक ने हैदर को बोझ तले दबे हुए देखकर उसे सहारा देना चाहा। हैदर ने सिर के इशारे से उसे हटा दिया। उसे बँगले के आ पहुँचने का मद्धिम-सा ज्ञान था और अब यहाँ तक आकर अपने किराये पर पानी नहीं फेरना चाहता था। उसकी टाँगों में स्फूर्ति आ गई। वह तेज़ चलने लगा। मंज़िल के समीप पहुँचकर पथिक की चाल तेज़ हो भी जाती है।

बँगले पर पहुँचकर कुमारी वाल्टन सीधे उस कमरे में गईं, जो प्यानो के लिए रिज़र्व था। हैदर विजयी की भाँति सीधा खड़ा हो गया, उसका मुख चमक उठा। साहब दूसरे कमरों में असबाब रखवा रहे थे! कुमारी वाल्टन ने नौकरों को इधर-उधर जाकर उनका हाथ बँटाने को कहा। उसी क्षण हैदर का सिर चकराया और वह कोच पर बैठ गया।

अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया और गाउन से बटवा निकालकर बीस रुपए के नोट उसके हाथ पर रख दिये। किन्तु नोट गिर पड़े। कुमारी वाल्टन ने सशंक नेत्रों से उसकी ओर देखा। हैदर की आँखें खुली हुई थीं और उसका शरीर अकड़ गया था।

कुमारी वाल्टन हैरान-सी, भौचक्की-सी, निर्निमेष नज़रों से उसकी ओर ताकती रह गई।

उस समय नौकर ने एक पीतल का टुकड़ा अन्दर फेंका।

"मिस साहब! यह नम्बर रिक्शा में ही रह गया था।"

कुमारी वाल्टन ने दौड़कर उठा लिया। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था "३३४"। 'पुअर हैडर' कहती हुई उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ी और उसकी आँखें सजल हो गईं।

तीन सौ चौबीस

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हिन्दी के अत्यन्त परिचित लेखकों में हैं। उनकी कहानियाँ और नाटकीय रचनाएँ विशेष ध्यान से देखी जाती हैं। विषय के निर्वाचन और भाषा की सफाई पर इनका ध्यान अधिक दिखाई पड़ता है क्योंकि सर्वत्र इनकी भाषा एक-सी हुई है और विषयान्तर्गत मानव की मनोवृत्तियों की सूक्ष्म बारीकियों के चित्रण और विश्लेषण में इनकी रुचि पाई जाती है। 'डाची' इनकी अति पठित कहानी है। उसमें बाकर की मनःस्थिति तक पाठक को पहुँचाने की तत्परता लेखक में मिलती है। यही इस कहानी '३२४' में भी है। हैदर में प्यानो के वजन का विचार तो आया पर अपने घर की बेबसी की तसवीर भी सामने खिंच गई। और फिर बोझा ढोने के लिए उसने 'हाँ' कर दिया था; अब कैसे मुकर जाए? 'अब इनकार कर उस सुन्दर लड़की की नजरों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था।' इसी लिए वह बलिष्ठ युवक उस सुन्दरी की सामान्य सहानुभूति प्राप्त कर सकने की आकांक्षा में मर मिटा। अन्त तक अपनी आन पर डटा रहा।

इस प्रकार एक ओर कुशल लेखक ने यह दिखाया है कि दारिद्र्य से पीड़ित जन किस प्रकार जान पर खेलकर पैसा कमाने में निरत होता है, और दूसरी ओर यह भी संकेत किया है कि हृदय की एक साधारण-सी ढरन मनुष्य को अतिमानव बना देती है। कुमारी वाल्टन के 'युवा हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। बहादुर से, सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में—' आगे चलकर हैदर के पुरुषार्थ और हिम्मत को देखकर यह भाव कुछ रंगीन हो उठता है—'इस बहादुर कुली पर निसार होने के लिए उसका हृदय बेताब हो उठा।' अन्त में मंजिले मक्सूद पर पहुँच-

कर जब हैदर बेहोश हो जाता है तब—'अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया।' प्राण देकर हैदर ने यह चुम्बन कमाया है और वह सुन्दरी भाग्य के इस कठोर विधान पर हैरान-सी भौंचक्की-सी निर्निमेष हो जाती है। हैदर की आन-प्रियता में जो विवशता है अथवा सुन्दरी वाल्टन की सहानुभूति में जो अनुराग का कण रंजित हो उठा है वही कहानी का केन्द्र बिन्दु है।

यशपाल

आपके परिवार का आदिम स्थान कांगड़ा की पहाड़ी घाटी है। गरीबी के कारण जीविका की खोज में पंजाब के लाहौर, फीरोजपुर आदि स्थानों में रहे। आरम्भिक शिक्षा गुरुकुल-कांगड़ी में पाई थी, फिर लाहौर डी० ए० वी० स्कूल और नेशनल कालिज में। स्कूल में पढ़ते समय ही कांग्रेसी राजनीति में भाग लेने लगे थे। १९२०-२१ के आन्दोलन में पढ़ाई छोड़ कांग्रेसी कार्य के लिए पंजाब के गाँवों में भी घूमे पर उससे निराश ही नेशनल कालिज में पढ़ते समय भगतसिंह, भगवतीचरण आदि के साथ मिल 'नौजवान भारत सभा' का प्रकट राजनैतिक कार्य-क्रम और 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजा तंत्र सेना' का गुप्त सशस्त्र क्रान्ति का काम आरम्भ किया। लिखने की प्रवृत्ति बचपन से ही थी। कालिज में पढ़ते समय पहले पहल कानपुर के 'प्रताप' और 'प्रभा' में कुछ चीजें प्रकाशित हुई थीं। यह क्रम चल न सका क्योंकि लाहौर षड्यंत्र के मामले में भगत-सिंह आदि के गिरफ्तार हो जाने पर आप फरार हो गये और सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा में वायसराय की ट्रेन के नीचे बम चलाने और दल के संगठन में व्यस्त रहे। उस समय भी कुछ-न-कुछ लिखते ही रहते थे, प्रायः गुप्तनाम से। श्री चन्द्रशेखर आज़ाद के इलाहाबाद में पुलिस का सामना करते हुए खेत हो जाने पर हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना के कमाण्डर-इन-चीफ़ चुन लिये गये। १९३२ में गोली चला पुलिस का सामना करते हुए गिरफ्तार हो गये। उम्र कैद की सजा मिली। १९३८ की कांग्रेस सरकार ने जेल से रिहा कर दिया। जेल में जेल की मजदूरी न कर केवल पढ़ने-लिखने में लगे रहे। पढ़ने का पर्याप्त समय मिला। लिखने का भी। उस समय लिखी चीजों के प्रकाशित हो जाने की आशा नहीं थी। इसलिए लिखे को दुबारा लिखकर अच्छा लिख सकने का यत्न

करते रहते। आपके मन में आशा थी कि यदि जेल में ही मर न जायँगे तो लिखकर अपने उद्देश्य को पूरा करेंगे।

१६३८ के अन्त में 'विप्लव' का प्रकाशन आरंभ किया। वह चल निकला। अकेले ही अपनी स्त्री प्रकाशवती के साथ सम्पादन तथा प्रकाशन का काम करते रहे। प्रकाशन और प्रबन्ध के काम में पत्नी की सहायता सफलता का बड़ा कारण है। 'विप्लव' पहले १६४१ में बन्द किया गया था। १६४७ में शुरू किया तो कांग्रेस सरकार ने १६४६ में उसे बन्द करा दिया। अब उस झंझट से छुट्टी पाकर पुस्तकें ही प्रकाशित करते हैं। इस समय नयी पुस्तक "लौह आवरण के आर पार" छपी है। नौ कहानी संग्रह हैं, छह उपन्यास, दो आपबीती और सात निबंधात्मक। भारत की लगभग सभी प्रान्तीय भाषाओं में आपकी चीजें थोड़ी-बहुत अनुवादित हो चुकी हैं।

कुत्ते की पूँछ

श्रीमती जी कह रही थीं—"उलटी बयार फ़िल्म का बहुत चर्चा है, देख आना चाहिए।"

देख आने में एतराज़ न था परन्तु सिनेमा शुरू होने के समय अर्थात् साढ़े छः बजे तक तो दफ़्तर के काम से ही छुट्टी नहीं मिल पाती। दूसरे शो में जाने का मतलब है—बहुत देर से सोना, कम सोना और अगले दिन काम ठीक से न कर सकना। लेकिन जब "उलटी बयार" को तीसरा हफ़्ता लग गया तो यह मान लेना पड़ा कि फ़िल्म अवश्य ही देखने लायक होगी।

रात साढ़े बारह बजे सिनेमा-हाल से निकलने पर टाँगे का दर कुछ बढ़ जाता है। आने-दो-आने में कुछ बन-बिगड़ नहीं जाता लेकिन टाँगेवाले के सामने अपनी बात रखने के लिए कहा—"नहीं, पैदल ही चलेंगे। चाँदनी रात है। मुश्किल से चार क़दम चलने का मौक़ा मिला है।"

उज्ज्वल चाँदनी में सूनी सड़क पर सामने चलती जाती अपनी बौनी परछाईं पर कदम रखते चले जा रहे थे। ज़िक्र था, फ़िल्म में कहाँ तक स्वाभाविकता है और कितनी कला है? स्त्रियों से भी कला के विषय में बात की जा सकती है; खासकर जब परिचय नया हो! परन्तु स्वयं अपनी स्त्री से......जिसे आदमी रग-रोएँ से पहचानता हो, बहस या विचार विनिमय का क्या मूल्य?

श्रीमती को शिकायत है, दुनिया भर के सैकड़ों विषयों पर सैकड़ों लोगों से बहस करके भी मैं उनसे कभी बहस नहीं करता। मैं उन्हें किसी योग्य नहीं समझता। इस अभियोग का बहुत माकूल जवाब मैंने सोच

निकाला—जिस आदमी से विचारों की पूर्णतः एकता हो उससे बहस कैसी ?

इस उत्तर से श्रीमती को बहुत दिन तक संतोष रहा कि विद्वान समझे जानेवाले पति के समान विचार होने के कारण वे भी विद्वान हैं। परन्तु दूसरों पर बहस की संगीन चला सकने के लिए पति नाम के रेत के बोरे पर कुछ अभ्यास करना भी तो जरूरी होता है। इसी लिए एक दिन खीझकर बोलीं—"बहस न सही, आदमी बात तो करता है। हमसे तो कभी कोई बात नहीं करता।"

सो पति होने का टैक्स चुकाने के लिए अपनी स्त्री के साथ कला का ज़िक्र कर चाँदनी रात का खून हो रहा था। मैं कह रहा था और वे हूँ-हूँ कर हामी भर रही थीं। अचानक वे पुकार उठी—"यह देखो।"

स्त्री के सामने कला की बात करने की अपनी समझदारी पर दाँत पीसकर रह गया। सोचा वही बात हुई—"राजा कहानी कहें, रानी जूँ टटोलें।"

देखा—हलवाई की दूकान थी। सौदा उठा लिया गया था। बिजली का एक बल्ब अभी जल रहा था। लाला दूकान के तख्त पर चिलम उलटकर दीवार से लगे औंधा रहे थे। नीचे सड़क पर बड़ी कढ़ाई ईंट के सहारे टिकाकर रखी गयी थी। उसे माँजने के प्रयत्न में एक छोटी उम्र का लड़का उसी में सो रहा था। कालिख से भरा जूना उसके हाथ में थमा था। और उसकी बाँह फैली हुई थी। दूसरा हाथ कड़े को थामे था। कढ़ाई को घिसते-घिसते लड़का औंघा गया और फैली हुई बाँह पर सिर रख सो गया।

एक कुत्ता कढ़ाई के किनारे-किनारे बच रही मलाई को चाट रहा था। मैं देखकर परिस्थिति समझने का यत्न कर रहा था कि श्रीमती जी ने पिघले हुए स्वर में क्रोध का पुट देकर कहा—"देखते हो जुल्म !

......क्या तो बच्चे की उम्र है और रात के एक बजे तक यह कढ़ाई जिसे वह हिला नहीं सकता, उससे मँजाई जा रही है !"

मेरी बाँह में डाले हुए हाथ पर बोझ दे वे कढ़ाई पर झुक गईं और लड़के की बाँह को हिला उसे पुचकारकर उठाने लगीं।

लड़का नींद से चौंककर झपाटे से कढ़ाई में जूने के रगड़े लगाने लगा, परन्तु श्रीमतीजी के पुचकारने से उसने नींद भरी आँख उठाकर उनकी ओर देखा।

परिस्थिति को समझ मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुसार कहा—"मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की कोई सीमा नहीं।"

मेरी इस बात को अपने समझने योग्य भाषा में प्रकट करने के लिए वे बोलीं—"हाय, कैसे पत्थर दिल होते हैं जो इस उम्र में बच्चों को इस तरह बेच डालते हैं ! और इस राक्षस को देखो, बच्चे को मेहनत पर लगा खुद सो रहा है !"

फिर वे बच्चे को पुचकारकर साथ चलने के लिए पुकारने लगीं।

इस गुल-गपाड़े से लाला की आँख खुल गई। नींद से भरी लाल आँखों को झपकाते हुए लाला देखने लगे; पर इससे पहिले कि वे कुछ समझें या बोल पायें, श्रीमतीजी लड़के का हाथ थाम ले चलीं। फ़िल्म और कला की चर्चा श्रीमतीजी की करुणा और क्रोध के प्रवाह में डूब गयी। कानूनी पेशा होने के कारण कानून की जद का खयाल आया। समझाया—"कम उम्र बच्चे को उसके मा-बाप की अनुमति के बिना इस प्रकार खींच ले जाने से पुलिस के झंझट में पड़ना होगा।"

राजा और समाज के कानून से जबरदस्त कानून है स्त्रियों का। पति को बिना किसी हीलो-हुज्जत के स्त्री के सब हुकुम मानने ही पड़ते हैं। श्रीमतीजी ने अपना कानून अड़ाकर कहा—"इसके मा-बाप आकर ले जायेंगे। हम कोई लड़के को भगाये थोड़े ही लिये जा रहे हैं। लड़के पर इस तरह जुल्म करने का किसी को क्या हक है ! यह भी कोई कानून है ?"

लाला आँख झपकाते रहे और हम उस लड़के को लिये चले आये। लाला बोले क्यों नहीं? कह नहीं सकता। शायद कोई बड़ा सरकारी अफ़सर समझकर चुप रह गये।

लड़के से पूछने पर मालूम हुआ कि दरअसल उसके मा-बाप थे नहीं। मर गये थे। कोई उसका दूर का रिश्तेदार उसे लाला के यहाँ छोड़ गया था।

दूसरे रोज़ लाला बँगले के अहाते में हाज़िर हुए और बोले कि यों तो हम माई-बाप हैं लेकिन मेम साहब की ज्यादती है। लड़के के बाप की तरफ़ लाला के साठ रुपए आते थे। वह मर गया। लाला उल्टे और अपनी गाँठ से लड़के को खिला-पहनाकर पाल-पोस रहे थे। लड़के की उमर ही क्या है कि कुछ काम करेगा! ऐसे ही दूकान पर चीज़ घर-उठा देता है सो मेम साहब उसे भी उठा लाईं। लाला बेचारे पर ज़ुल्म ही ज़ुल्म है। उन्हें उनके साठ रुपए दिला दिये जायँ। सूद वे छोड़ देने को तैयार हैं। या फिर लड़का ही उनके पास रहे।

बरामदे में फ़र्श पर जूते की ऊँची एड़ी पटक, भौं चढ़ाकर श्रीमती जी ने कहा—"आल राइट...इसके बाद वे शायद कहना चाहती थीं—"साठ रुपए ले जाओ!"

परिस्थिति नाज़ुक देख बीच में बोलना पड़ा—"लाला, जो हुआ, अब चले जाओ, वर्ना लड़का भगाने और 'क्रुएल्टी टू चिल्डरन' (बच्चों के प्रति निर्दयता) के जुर्म में गिरफ्तार हो जाओगे—।" अहाते के बाहर जाते हुए लाला की पीठ से नजर उठाकर श्रीमतीजी ने विजय गर्व से मेरी ओर देखा। उनका अभिप्राय था—देखो, तुम खामखाह डर रहे थे। हमने कैसे सब मामला ठीक कर लिया! तुम कुछ भी समझ नहीं सकते!

लड़के का नाम था हरुआ। श्रीमती ने कहा—यह नाम ठीक नहीं, होना चाहिए, हरीश। लड़के की कमर पर केवल एक अंगौछा मात्र

था, शेष शरीर ढका हुआ था मैल के आवरण से। सिर के बाल गर्दन और कानों पर लटक रहे थे।

लाइफ व्याय साबुन की झाग में घुल-घुलकर वह मैल बह गया और हरीश साँवला-सलोना बालक निकल आया। दरबान के साथ सैलून में भेजकर उसके बाल भी छँटवा दिये गये। बिशू के लिए नई कंघी मँगाकर पुरानी हरीश के बालों में लगा दी गयी। बिशू के कपड़े भी हरीश के काम आ सकते थे, परन्तु चार बरस के लड़के में अन्तर काफ़ी रहता है। खैर, जो भी हो हफ्ते-भर में हरीश के लिए भी नेवी कट कालर के पाँच-छः कमीज और नेकर सिल गये। उसके असुविधा अनु-भव करने पर भी उसे जुराब और जूता पहनना पड़ता। श्रीमतीजी ने गम्भीरता से कहा—"उसके शरीर में भी वैसा ही रक्त-मांस है जैसा कि किसी और के शरीर में!"—उनका अभिप्राय था, अपने पेट के लड़के बिशू से। परन्तु इसका कारण था; वह यह कि बिशू आखिर पुत्र तो मेरा भी है न!

उन्होंने कहा—"उसके भी दिमाग है। वह भी मनुष्य प्राणी है और उसे मनुष्य बनाना भी उनका कर्तव्य है।" हरीश के कोई काम स्वयं कर देने पर प्रसन्नता के समय वे मेरा ध्यान आकर्षित कर कहतीं—"लड़के में स्वाभाविक प्रतिभा है। यदि उसे अवसर मिले तो वह क्या नहीं कर सकेगा?—हाँ, उस मजदूर का क्या नाम था जो अमेरिका का प्रेसीडेंट बन गया था? मौका मिले तो आदमी उन्नति कर क्यों नहीं सकता...।"

चार वर्ष की आयु ऐसी नहीं जिसमें अधिकार का गर्व न हो सके या श्रेणी विशिष्टता का भाव न हो। अपनी जगह पर अपने से नीची स्थिति के बालक को अधिकार जमाते देखकर, अपनी मा को दूसरे के सिर पर हाथ फेरते देख और हरीश को अपनी सम्पत्ति का प्रयोग करते देख, बिशू को ईर्ष्या होने लगी। रोनी सूरत बनाकर वह होंठ लटका लेता

या हाथ में थमी किसी चीज से हरीश को मारने का यत्न करने लगता। श्रीमतीजी को इन सब बातों में गरीबी और मनुष्यता का अपमान दिखाई देता। गम्भीरता से वे बिशू को ऐसा अन्याय करने से रोकतीं और हरीश का साहस बढ़ाकर उसे अपने आपको किसी से कम न समझने का उपदेश देतीं।

हरीश बात-बात में सहमता, सकपकाता। पास बैठने के बजाय दूर चला जाता और बिशू से खेलता भी हो तो उसकी आँखों में बिशू के खिलौनों के लोभ की झलक दिखाई देती रहती। श्रीमती उसे सन्तुष्ट-कर, उसका भय मिटाकर उसे बिशू के साथ समानता के दर्जे पर लाने का प्रयत्न करतीं। कई दफ़े उन्होंने शिकायत की कि मेरे स्वर में हरीश के लिए वह अपनापन क्यों नहीं आ पाता जो आना चाहिए, जैसा बिशू के लिए है। इस मामले में कानून का हवाला या वकालत की जिरह मेरी मदद नहीं कर सकती थी, इसलिए चुप रहने के सिवा चारा न था।

हरीश के प्रति सहानुभूति अनुभव कर उसे मनुष्य बनाने की इच्छा रखते हुए भी मैं श्रीमतीजी को इस बात का विश्वास न दिला सका। हरीश के प्रति उनकी वत्सलता और प्रेम मेरी पहुँच से एक बालिस्त ऊँचा ही रहता।

श्रीमतीजी को शिकायत थी कि हरीश आकर अधिकार से उनके पास क्यों नहीं बैठता और क्यों नहीं अपने मन को बात कहता? क्यों नहीं जरूरत की चीज के लिए ज़िद्द करता? उन्हें खयाल था कि इन सबका कारण था, मेरा भय।

एक दिन बुद्धिमानी और गहरी सूझ की बात करने के लिए उन्होंने सुनाकर कहा—"पुरुष सिद्धान्त और तर्क की लम्बी-लम्बी बातें कर सकते हैं, परन्तु हृदय को खोलकर फैला देना उनके लिए कठिन है।" सोचा—श्रीमतीजी को समानता की भावना के लिए उत्साहित कर उन्हें अपना

बड़प्पन अनुभव करने के लिए मैं अवसर पेश नहीं कर पाता हूँ यही मेरा कुसूर है।

एक रियासत के मुकद्दमे में सोहराबजी का जूनियर बनकर समस्तीपुर जाना पड़ा। उम्र बढ़ जाने पर प्रणय का अंकुश तो उतना तीव्र नहीं रहता पर घर की याद जवानी से भी अधिक सताती है। कारण है, शरीर का अभ्यास। निश्चित समय और स्थान पर आवश्यकता की वस्तु का सहज मिल जाना विदेश में नहीं हो सकता और न शैथिल्य का संतोष ही मिल सकता है।

समस्तीपुर में लग गये चार मास। औसत आमदनी से अढ़ाईगुना आमदनी के लोभ ने सब सुविधाओं को परास्त कर दिया। घर से सम्बन्ध था केवल श्रीमतीजी के पत्र द्वारा। कभी सप्ताह में एक और कभी सप्ताह में तीन पत्र आते। बिशू को जुकाम हो जाने पर एक सप्ताह में चार पत्र भी आये। आरम्भ के पत्रों में हरीश के जिक्र का एक पैराग्राफ़ रहता था और दूसरे पैराग्राफ़ में भी उसके सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत चर्चा। सोचा—मेरी गैरहाजिरी में मेरी अनुदारता से मुक्ति पाकर लड़का तीव्र गति से मनुष्य बन जायगा।

कुछ पत्रों के बाद हरीश की खबरों की सरगर्मी कम हो गयी। फिर शिकायत हुई कि वह पढ़ने-लिखने की ओर मन न लगाकर गली में मैले-कुचैले लड़कों के साथ खेलता रहता है। बाद में खबर आई कि वह कहना नहीं मानता, स्वभाव का बहुत जिद्दी है। बहुत डल (सुस्त दिमाग) है। हर समय कुछ खाता रहना चाहता है। इसी से उसका हाजमा ठीक नहीं रहता।

* * *

लौटकर आने पर बैठा ही था कि श्रीमतीजी ने शिकायत की—"सचमुच तुम बड़े अजीब आदमी हो! हम यहाँ फ़िक्र में मरते रहे और तुमसे खत तक न लिखा जा सकता था! ऐसी भी क्या

बेपरवाही ! यहाँ यह मुसीबत कि लड़के को खाँसी हो गयी। तीन-तीन दफ़े डाक्टर को बुलवाना पड़ता था। घर में सिर्फ़ दो तो नौकर हैं। वे घर का काम करें या डाक्टर को बुलाने जायँ ? इस लड़के को देखो—(हरीश की ओर संकेत करके)—जरा डाक्टर बुलाने भेजा तो सुबह से दोपहर तक गलियों में खेलता फिरा और डाक्टर का घर इसे नहीं मिला। डाक्टर जमील को शहर में कौन नहीं जानता ?"

हरीश बिशू को गोद में लिये श्रीमतीजी की ओर देख सहमता हुआ मेरे समीप आना चाहता था। इस उम्र में भी आदमी इतना चालाक हो सकता है ! हरीश को बिशू से इतना अधिक स्नेह हो गया था या वह उसे इसलिए उठाये था कि उसे सँभाले रखने पर उसे खाली खेलते रहने के कारण डाँट न पड़ेगी।

उसकी ओर देख श्रीमतीजी ने कहा—"अरे उसे खेलने क्यों नहीं देता ?...तुझे कई दफ़े तो कहा, गुसलखाने में गीले कपड़े पड़े हैं उन्हें ऊपर सूखने डाल आ !"

हरीश महफिल से यों निकाले जाने के कारण अपनी कतार आँखों से पीछे की ओर देखता चला गया। कुछ ही देर में वह फिर आ हाजिर हुआ। उसकी ओर देख श्रीमतीजी ने कहा—"हरीश, जाओ देखो पानी लेकर खस की टट्टियों को भिगो दो।...सुनो यों ही पानी मत फेंक देना। स्टूल पर खड़े होकर अच्छी तरह भिगो देना"।

मेरी ओर देखकर वे बोलीं—"जिस काम के लिए कहूँ कतरा जाता है।"

"इसे पढ़ाने के लिए जो वह स्कूल के लड़के को चार रुपए देने के लिए तय किया था, सो क्या नहीं आता ?"

बिशू के गले का बटन लगाते हुए श्रीमतीजी बोलीं—"खामखाह ! पढ़े भी कोई, यह पढ़ता ही नहीं; पढ़ चुका यह ? बस खाने की हाय-हाय लगी रहती है। कोई चीज सँभालकर रखना मुश्किल हो गया है।"

हरीश कमरे में तो दाखिल न हुआ मगर दरवाजे से झाँककर

चक्कर ज़रूर काट गया। वह सन्देह भरी नजरों से कुछ ढूँढ़ रहा था। फल की टोकरी से कुछ लीचियाँ निकालकर श्रीमतीजी ने बिशू के हाथ में दीं। उसी समय हरीश की ललचाई हुई आँखें विशू के हाथों की ओर ताकती हुई दिखाई दीं?

श्रीमतीजी खीझ गयीं—"हरदम बच्चे के खाने की ओर आँखें उठाये रहता है। जाने कैसा भुक्खड़ है! इन लोगों को कितना ही खिलाओ, समझाओ, इनकी भूख बढ़ती ही जाती है......ले इधर आ!" दो लीचियाँ उसके हाथ में देकर बोली—"जा, बाहर खेल, क्या मुसीबत है।"

उसी शाम को एक और मुसीबत आ गयी। जो कपड़े हरीश ने सुबह सूखने को डाले थे, वे हवा में उड़ गये। श्रीमतीजी ने भन्नाकर कहा—"तुम्हीं बताओ मैं इसका क्या करूँ? वही बात हुई न कि कुत्ते का गू न लीपने का, न पोतने का। अच्छी बला गले पड़ गयी। समझाने से समझता भी तो नहीं।......इसकी सोहबत में विशू ही क्या सीखेगा? कोई भला आदमी आये, सिर पर आ सवार होता है। स्कूल भिजवाया तो वहाँ पढ़ता नहीं। लड़कों से लड़ता है। अपने आगे किसी को कुछ समझता थोड़े ही है। तुमने उसे लाट साहब बना दिया है, कम जात कहीं अपनी आदत से थोड़े ही जाता है?"—क्या उत्तर देता? बात टाल गया।

फिर दूसरे समय श्रीमतीजी ने बिशू को उठाकर मेरी गोद में दे दिया। वे देखना चाहती थीं कि बिशू मेरी गोद में बैठने से कैसा जान पड़ता है? उसी समय हरीश भी दौड़कर आया और बिल्कुल सटकर खड़ा हो गया। पोज़ का यों बिगड़ जाना, श्रीमतीजी को न भाया। सुनाकर बोलीं—"बन्दर को मुँह लगाने से वह नोचेगा ही तो! इन लोगों के साथ जितना ही भलाई करो, उतना ही सिर पर आते हैं। यह कोई आदमी थोड़े ही हैं।"

कह नहीं सकता हरीश कितना समझा और कितना नहीं, पर इतना जरूर समझा कि बात उसी के बारे में थी और वह उसके प्रति आदर की नहीं थी। इतना तो पालतू कुत्ता भी समझ जाता है। गले का स्वर ही यह प्रकट कर देता है। हरीश कतराकर चला गया और मुँडेर पर ठोड़ी रख गली में झाँकने लगा।

सोचने लगा वह कौन ढंग हो सकता है कि अपनी बात भी कह सकूँ और श्रीमतीजी को भी विरोध न जान पड़े। कहा—"जानवर को आदमी बनाना बहुत कठिन है। उसे पुचकारकर पास बुलाने में बुरा नहीं मालूम होता, क्योंकि उसमें हमें दया करने का सन्तोष होता है। परन्तु जानवर जब स्वयं ही पंजे गोद में रख मुँह चाटने का यत्न करने लगता है, तब अपना अपमान जान पड़ने लगता है...।"

सहसा आवाज़ गरम करते हुए श्रीमतीजी बोलीं—"तो मैं कब कहती हूँ..."

उन्हें बात पूरी न करने दी। बात पूरी करने देता तो जाने कितना लम्बा बयान और जिरह सुननी पड़ती, इसलिए झट से बात काटकर कहा—"ओहो, तुम्हारी बात नहीं, मैं बात कर रहा हूँ यह सरकार और मजदूरों के झगड़े की!"

मन में भर गये क्रोध को एक लम्बी फुफकार में छोड़कर उन्होंने जानना चाहा, मैं बहाना तो नहीं कर गया। इससे पूछा—'सो कैसे?"

उत्तर दिया—"यही सरकार मजदूरों को भलाई के लिए कानून पास करती है और जब मजदूरों का हौसला बढ़ जाता है तो वे खुद ही सुधार माँगने लगते हैं तब सरकार को उनका आन्दोलन दबाने की जरूरत महसूस होने लगती है।"

श्रीमतीजी को विश्वास हो गया कि किसी प्रकार का विरोध मैं उनके व्यवहार के प्रति नहीं कर रहा।

बोलीं—"तभी तो कहते हैं कुत्ते की पूँछ बारह बरस तक नली में

रखी, पर सीधी नहीं हुई। हाँ, उस रोज वो लाला साठ रुपए की धमकी दे रहा था। बनिया ही ठहरा! कहीं सूद भी गिनने लगे तो जाने रकम कहाँ तक पहुँचे? इस झगड़े में पड़ने से लाभ?"

श्रीमतीजी का मतलब तो समझ गया परन्तु समझकर आगे उत्तर देना ही कठिन था। इसलिए उनकी तरफ विस्मय से देखकर पूछा—"क्या मतलब तुम्हारा?"

"कुछ नहीं"—उन्होंने कहा। उन्हें झल्लाहट थी मेरी कमसमझी पर और कुछ झेंप थी जानवर को मनुष्य बना देने के असफल अभिमान पर।

मैं जानता हूँ—बात दब गयी, टली नहीं। कल फिर वह प्रश्न उठेगा। परन्तु किया क्या जाय? कुत्ते की पूँछ एक दफे काट लेने पर उसे फिर से उसकी जगह लगा देना कैसे सम्भव हो सकता है? और मनुष्यता का चसका एक दफे लग जाने पर फिर किसी को जानवर बनाये रखना भी तो सम्भव नहीं?

कुत्ते की पूँछ

उपन्यास और कहानी-लेखक के रूप में श्रीयशपाल का बड़ा यश है। उनमें यथार्थ वस्तु की लपेट में व्यावहारिक तथ्यों के उद्‌घाटन की अपूर्व क्षमता दिखाई पड़ती है। उन्होंने अनेक साधारण विषयों को लेकर इस मार्मिकता से कथानक को गढ़ दिया है कि उसके भीतर कुछ मर्म, कुछ विचार और कुछ चमत्कार की बात झलक उठी है। दैनिक जीवन और मध्यमवर्ग के कौटुम्बिक और सामाजिक विचार-भाव की विविध भंगिमाओं के प्रकाशन की ओर उनकी विशेष अभिरुचि दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा की व्यावहारिकता और वाक्यों की सरल गतिशीलता इस प्रकार के विषय निर्वाह में योग देती है।

इस कहानी के आरम्भ में मध्यमवर्गीय पति-पत्नी के सम्बन्ध की यथार्थ व्यंजना मिलती है जिसमें काल्पनिक भावुकता से भरे संवादों का सर्वथा अभाव रहता है। आगे चलकर श्रीमतीजी की साम्यमूलक विचार-धारा कहिये अथवा वात्सल्य-मूलक ममत्व की पूरी झलक आती है। उस दीन छोटे बच्चे के प्रति सहसा उनका जो अनुराग उबल पड़ा है उसमें महिला-सुलभ कोमलता ही प्रकट होती है। उसी भावुकता के फेर में पड़कर उन्होंने उस लड़के का भरण-पोषण ठीक अपने पुत्र की तरह किया और नाना प्रकार से उसे भलामानुस बनाने की पूरी चेष्टा की, पर संस्कार-विहीन वह लड़का जहाँ-का-तहाँ रह जाता है। धीरे-धीरे उन देवीजी का मन भर जाता है और उनका अव्यावहारिक आदर्श-ममत्व कमजोर पड़ता-पड़ता कुंठित हो उठता है। वह लड़का अन्त में निकम्मा ही सिद्ध होता है। कुत्ते की पूँछ चेष्टा करने पर भी सीधी नहीं की जा सकती। कहानी का मूल निष्कर्ष अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है।

श्री विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म मीरापुर, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) में २१ जून, सन् १९१२ को हुआ था। आप बचपन में ही हिसार (पूर्वी पंजाब) चले गये थे और वहीं आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। पंजाब विश्वविद्यालय से आपने बी० ए० तथा प्रभाकर पास किया। पन्द्रह वर्ष तक आपने सरकारी कृषि विभाग में नौकरी की। सन् १९४४ में अपने पद से त्यागपत्र देकर आप पूर्णतया साहित्यिक कार्य में जुट गये।

सन् १९३४ से आप नियमित रूप से साहित्य रचना कर रहे हैं: कविता, कहानी, लेख, सभी कुछ लिखा। किन्तु अधिकतर कहानियाँ ही लिखीं। सन् १९३९ से आप नियमित रूप से नाटक और रेखाचित्र भी लिखने लगे। सन् १९४२ से रेडियो के सम्पर्क में आने से आपने ध्वनि नाटक एवं रूपक लिखने में विशेष सफलता प्राप्त की। आपकी कहानियाँ देश की अनेक प्रमुख भाषाओं में अनूदित हुई हैं।

विष्णुजी की प्रकाशित रचनायें :—

१. उपन्यास—ढलती रात

२. नाटक और रूपक—(१) इन्सान, (२) मा का बेटा, (३) उपचेतना का छल, (४) हमारा स्वाधीनता संग्राम और (५) वीर प्रताप।

कहानी-संग्रह—आदि और अन्त, (२) रहमान का बेटा, (३) जीवन-पराग।

सम्पादित ग्रंथ—रामनाम की महिमा (गांधीजी), (२) मेरे समकालीन (गांधीजी)।

द्वन्द्व

सुजाता की आँखें भर आईं। सारे चित्र उसके सामने इस तरह घूम गये, मानो वे सब सजीव घटनायें अभी उसके सामने घट रही हैं और वह उन्हें देख रही है—असमर्थ, विवश, पत्थर के बुत की तरह; न हिल सकती है, न बोल सकती है। केवल उसके दिल का दर्द आँखों में उमड़कर चारों ओर फैलता जा रहा है, जिसकी चमक देखकर वह स्वयं ही काँप उठती है, लेकिन वह सोचती है, उस कम्पन का मूल्य ही क्या, जो हाथों को आगे न बढ़ा सके, जो पैरों को चलने पर विवश न करे...वह रुक गई। उसका दर्द और भी गहरा हो उठा। उसने फुसफुसाकर कहा—मुझे चलने से कोई रोक नहीं सकता, मुझे देने से कोई मना नहीं कर सकता! नहीं, मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं चाहे जो कर सकती हूँ...

विचारों पर फिर एकदम धक्का लगा। वह खड़ी थी, अब पास पड़े पलँग पर बैठ गई या कहें, लुढ़क पड़ी, क्योंकि उसी पर उसकी छोटी लड़की अमला सोई थी। वह एकदम चौंककर उठी...ओह! सुजाता हड़बड़ायी। अमला को गोद में उठा लिया, पुचकारा। क्षण-भर के लिए सब विचार हवा हो गये। उसे अपने पर ग्लानि हो आयी, लेकिन दूसरा क्षण बीता, अमला गोद में चिपककर सो गई और वह फिर कहने लगी—कल इसी वक्त अनन्त आया था। उसने आते ही कहा था—भाभी! भीख माँगने आया हूँ। सुजाता हँसी थी—भीख माँगने आये हो, तो दरवाजे पर जाकर खड़े हो। एक मुट्ठी आटा ले आती हूँ। वह नहीं हँसा था; बल्कि गम्भीर होकर बोला था—आटा नहीं भाभी, मुट्ठी में रुपए भरो।

'रुपए !'

'हाँ, रुपए, भाभी! जो कुछ भी जीवन में जोड़ा हो, वह मुझे दे दो।

'हँसी फिर आई–डाका डालने का बड़ा सुन्दर तरीका ढूँढ़ा है तुमने !'

'आशीर्वाद दो भाभी, ऐसा डाका डालने में मैं समर्थ होऊँ"—अनन्त जरा भी नहीं हँसा। सुजाता शंकित हुई—आखिर क्या बात है, अन्तू ?

'बात जानोगी ?'

'हाँ, कुछ बताओ भी, तुम तो आज पहेली बुझा रहे हो।'

'यह ऐसी पहेली है भाभी, जो मेरे बुझाये न बुझेगी'—अनन्त बोला और फिर उसने बगल से अखबारों का एक बण्डल निकाला, उसे पलँग पर फैलाने लगा—लो, देखो भाभी ! बात यह है। देखती हो इन तसवीरों को, सुनती हो, ये क्या कहती हैं ?

सुजाता ने अचरज से उन तसवीरों को देखा। देखकर अचकचाई, काँपी, फिर धीरे से पढ़ने लगी। (१) ये दो बच्चे अपने पिता को अन्तिम साँस तोड़ते देख रहे हैं, (२) यह मा अपने मरते हुए बच्चे को छाती से चिपका रही है, दूसरा-बच्चा मरा पड़ा है, तीसरा कहता है, मा ! भूख लगी है, (३) अब इसे दूध की जरूरत नहीं मा ! (४) आधी छटाँक खिचड़ी के लिए अपार भीड़। (५) सड़कों पर लावारिश लाशों का ढेर ! (६) यह बच्चा है, जिसे भूखी मा ने एक आने में बेचा है। (७) ओ, जलानेवाले ! इसे भी ले जाओ...सुजाता आगे न पढ़ सकी। दिल में कुछ चुभने लगा। बोली—अन्तू ! आखिर यह सब क्या है ?

'भूख।'

'इन्हें कोई खाना देनेवाला नहीं।'

'नहीं।'

'तो ?'

'इन्हीं के लिए भीख माँगने आया हूँ।'

'ओह ! तुम चन्दा कर रहे हो और ये कलकत्ते के दृश्य हैं'—सुजाता एकदम बोल उठी।

'जी, आपने ठीक समझा।'

सुजाता हँसी नहीं, बल्कि गम्भीर होकर बोली—कलकत्ते की बातें मैंने सुनी हैं, अन्तू ! अन्न की कमी से यह सब अनर्थ हो रहा है और अभी क्या होगा, इसका किसी को भी पता नहीं है। कौन जाने, हमें भी इसी तरह तड़प-तड़पकर दम तोड़ना पड़े !

'शायद तुम ठीक कह रही हो, भाभी !'

'आखिर यह सब क्यों होता है ?'

'कौन जाने !'

'हाँ, अन्तू ! कौन जाने भगवान् ऐसा क्यों करते हैं ! शायद प्रलय होने वाला है।'

'शायद।'

दोनों चुप रहे। क्षणिक सन्नाटा छा गया, फिर अन्तू बोला—मुझे आगे जाना है, भाभी !

सुजाता चौंक पड़ी—ओह ! मैं भूल गई, अन्तू। जी दुख रहा है। मैं कल सवेरे ही तुम्हारे घर रुपए भेज दूँगी। सन्ध्या को वे आयेंगे।

'मैं समझा'—अन्तू जरा मुस्कराया—मैं कल आऊँगा।

सुजाता लजाई—आ जाना, मैं जरूर दूँगी अन्तू, अब तो...

'जानता हूँ'—अन्तू ने कहा। और उठकर चल पड़ा। सुजाता उसे देखते-देखते खड़ी रही। अचानक जी में उठा, पुकारकर कहे—अरे अन्तू ! जरा ठहर तो, पानी-वानी पीता जा। लेकिन शब्द वाणी का साथ न दे सके, भावों से जकड़े रहे।

और यही बात लेकर सुजाता सोमेन से सलाह करने बैठी। नारी थी—बात का क्रम जानती थी। सन्ध्या को भोजन से निपटकर, जैसे

ही सोमेन ने नया मासिक उठाया, सुजाता बोल उठी—अखबार तो आप रोज ही पढ़ते हैं।

सोमेन मुस्कराया—पढ़ता हूँ; तुम भी पढ़ोगी? कई बार कह चुका, आज-कल अखबार जरूर पढ़ा करो।

सुजाता लजा गई—पढ़ना तो चाहिए।

'तो मैं कह दूँगा 'हिन्दुस्तान' या 'विश्वामित्र' दे जाया करेगा। अंगरेजी का तो तुम ठीक-ठीक समझोगी नहीं।'

'हाँ', सुजाता ने कहा। फिर रुककर बोली—सुना है कलकत्ते में तो आदमी सड़कों पर मर रहे हैं।

सोमेन ने पत्रिका पलटते-पलटते कहा—मौत स्थान की चिन्ता नहीं करती, सुजाता!

'जी, पर इस तरह आदमी मरने लगे तो...।'

'तो दुनिया निबट जायगी'—सोमेन बड़े जोर से हँस पड़ा—तो फिर कौन बुरा काम होगा, यह दुनिया बनी ही क्यों है?

'भगवान जाने...।'

'भगवान को ही कौन जानता है?'

सुजाता सोमेन के इस तर्क-प्रवाह से अप्रतिभ हुई, बोली—आपने तो दर्शन-शास्त्र पढ़ा है। मैं आपसे तर्क नहीं करती। मैं तो पूछती थी, कलकत्ते में जो लोग भूखे सड़कों पर मर रहे हैं, मा के देखते-देखते उसके बच्चे प्राणों को छोड़ देते हैं, अपने बच्चों को बिलखते छोड़कर मा-बाप आँख मींच लेते हैं, यह जो अव्यवस्था और अन्याय फैला है, उसके लिए कौन जिम्मेदार है?

'भगवान'—सोमेन ने उसी तरह आँखें गाड़े कहा।

'और'—सुजाता बोल उठी आप-ही-आप।

'भाग्य!'

'और?'

'राजा ।'

सुजाता मशीन की तरह फिर 'और' कहने की हुई, पर रुक गई । सोमेन बात करने के मूड में नहीं था, यह वह समझ गयी । इसलिए उसका दिल कुछ भर आया, ग्लानि-सी पैदा हुई । आँखों में जैसे कुठार कसक उठा, मलने लगी । अब सोमेन ने आँखें ऊपर उठाईं । जाना, सुजाता रिसा गयी है; इसलिए मुस्करा उठा और बोला—और नहीं पूछोगी, सुजाता ?

क्रोध वह पड़ा—आप किसी को कुछ समझते हैं, आपसे कोई क्या पूछे ?

सोमेन और भी मुस्कराया—आपकी बात का जवाब मैं दे रहा हूँ, अगर वह आपके मन के अनुसार नहीं है, तो मैं क्या करूँ ?

'खाक'—सुजाता रिसाई रही ।

सोमेन हँस पड़ा—खाक तुम्हें महँगी पड़ेगी, सुजाता ! भारत में उन बेवकूफ़ों की कमी नहीं है, जो रात-दिन खाक को माथा नवाया करते हैं । मुझे साधू बनने में कोई आपत्ति नहीं है ।

सुजाता भी ढीली पड़ी—तब इस घर का क्या करोगे ?

'दान ।'

अभी क्यों नहीं कर देते ?

'गृहस्थी में रहते सर्वस्व-दान पाप है ।'

'सर्वस्व नहीं, वह तो केवल कुछ रुपयों की बात है ।'

'रुपए'—सोमेन चौंका ।

'जी'—सुजाता मुस्करायी ।

सोमेन ने अजरज से सिर उठाया और सुजाता को देखा । वह हँसना चाह रही थी, परन्तु विषाद उसे मथे डाल रहा था और बेबसी के कारण अपने पर झुँझला रही थी । सोमेन को बड़ा अजीब-सा लगा । उसने पत्रिका बन्द कर दी और पास आकर कहा—सुजाता ! आखिर बात क्या है ?

सुजाता ने ऊपर देखा और कहा—बात यही है कि अन्तू आया था।

'अनन्त ?'

'जी।'

'चन्दा माँगने के लिए ?'

'जी।'

'आपने कहा कल आना ?'

'जी।'

'दिया क्यों नहीं ?'

सुजाता ने ऊपर देखा—मेरे पास क्या था, जो मैं देती ?

'मेरे पास क्या है ?'

'यही तो सलाह करनी है।'

सोमेन फिर बैठ गया—सुजाता ! मैं तुम्हारे दर्द को पहचानता हूँ। दर्द मेरे भी उठता है। आँखें मेरी भी उफनती हैं। छाती भर आती है। जी में उठता है कि सब-कुछ दान कर दूँ, सब-कुछ।

सुजाता ने सगर्व सोमेन को देखा। सोमेन फिर बोला—लेकिन सुजाता ! मैं सोचता हूँ, भगवान् सब-कुछ देख रहे हैं, वह सब-कुछ जानते हैं, अनन्त धन आज भी देश में भरा पड़ा है, तो फिर यह विडम्बना क्यों है ? क्यों यह भूख जन-जन को खाये जा रही है ? क्यों यह आत्म-विश्वास ढीला पड़ता जा रहा है ? क्यों मनुष्यता लोप हो गई है...

सुजाता ने धीरे से डरते-डरते कहा—यह सब तो विश्व-संघर्ष के कारण है।

'और यह संघर्ष किस कारण है ?'

सुजाता नहीं बोली। सोमेन ने फिर कहा—सुजाता ! प्रश्न का अन्त कहाँ है ? तुम कहती हो, सब अनर्थ संघर्ष के कारण है, पर मैं कहता हूँ, इन सब अनर्थों के कारण ही यह संघर्ष है। फिर मैं क्या

करूँ ? मैं क्यों उस भगवान के कार्यों में दखल दूँ। मैं तो चाहता हूँ कि यह 'त्राहि-त्राहि' मचती रहे, यह अन्याय बढ़ता रहे और एक दिन यह सब दुनिया नष्ट हो जाय......।

'भगवान चाहेंगे तो यही होगा।'

'तो फिर प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान चाहते हैं, मानव भूखा मरे, तो हम क्या कर सकते हैं ?'

सुजाता फिर बोली—आपसे मैं तर्क नहीं करती, पर दया-परोपकार की बात भी तो हमारे शास्त्र में लिखी है, उसी की परख करने के लिए भगवान यह अन्याय दुनिया में पैदा करते हैं।

सोमेन एकदम बोला—दया और परोपकार पाप है, मैं उनमें विश्वास नहीं करता।

'पाप ! !'—सुजाता काँप उठी।

'हाँ पाप ! जो वस्तु मनुष्य को अशक्त बनाये, जो उसके आत्म-विश्वास को खण्डित करे, जो उसे दूसरे का आश्रित बनाये वह पाप है, सहस्र बार पाप है।'

सुजाता फिर कुण्ठित हुई, लेकिन दूसरे ही क्षण एक बात उसे सूझ आई, बोली—पराश्रय की बात अगर सच है, तो घर-घर में यह पाप फैला है। मैं आप पर आश्रित हूँ। बच्चे हम दोनों पर आश्रित हैं।

सोमेन हँस पड़ा—तर्क तुम्हें भी आता है सुजाता; पर तुम एक भूल करती हो, जिस तरह तुम मुझ पर आश्रित हो, उसी तरह मैं तुम पर आश्रित हूँ। हम सब एक दूसरे पर आश्रित हैं, यह गृहस्थ जीवन-यापन के लिए किया गया समझौता मात्र है; परन्तु भूखे को भोजन देकर तो तुम उसे सदा के लिए निकम्मा बना रही हो। वह न भोजन के लिए प्रयत्न करेगा, न भूखा मर सकेगा, केवल हाथ पसारे गिड़गिड़ाया करेगा, सुजाता ! यह जीते-जी की मौत है, महापाप है।

सुजाता की बुद्धि पर बार-बार ठेस लग रही थी। वह बार-बार

कुण्ठित हो उठती थी। बार-बार फिर उसे कुछ सूझ जाता था। बोली—लेकिन आप भूलते हैं, स्वामी! यह उन व्यवसायी भिखमंगों की बात नहीं है। इन्हें तो इस सत्यानाशी दुर्भिक्ष ने मरने को विवश किया है और फिर वे सब लोग माँगने को कहाँ आ रहे हैं, वे तो भूखों मर रहे हैं...

इसी समय सहसा अमला जागकर रो उठी। सुजाता ने लपककर उसे उठा लिया। छाती उसकी भर रही थी, आँखें उमड़ी पड़ती थीं। बच्ची को कलेजे से लगाते ही बरस पड़ीं। सोमेन ने अचरज से चकित इस नारी को देखा, जिसकी आँखों में अब एक अद्भुत भय साकार होता आ रहा था—कौन जाने, एक दिन हमें भी, भूख की ज्वाला में झुलसना पड़े। कौन जाने ये बच्चे...उसी क्षण उसके सामने अखबार की तसवीरें घूम गईं। हर एक तसवीर में उसने देखा अपने को, सोमेन को और अपने दोनों बच्चों को...वह काँप उठी, तिनक उठी, बच्चे को जोर से छाती में भरकर उसने अपने होठ काट लिये। कहीं सोमेन उसके आँसू न देख लें; लेकिन सोमेन ने उन आँसुओं को देखा, उन आँसुओं के स्रोत को भी देखा, फिर चुपचाप छड़ी उठाई और बाहर चला गया। जाते हुए कहा—सुजाता! तो जरा घूम जाऊँ। सिर भारी है, दूध न पिऊँगा। और वह चला गया। उसके बाद फिर उस रात दोनों में कोई बात नहीं हुई। सुजाता ने मशीन की तरह गृहस्थी के काम सँभाले। दूध स्वयं भी नहीं पिया। सब जमा दिया। बरतन मले, चूल्हा लीपा, बच्चे की आँखों में काजल डाला और चुपचाप बड़े लड़के रज्जू को पति के पलंग पर सुला आई। छोटी अमला को अपनी छाती में समेटकर पड़ रही। सोचती रही, पति आवें तो उठकर किवाड़ खोल दे, लेकिन किवाड़ खुले पड़े रहे। लालटेन अकेली आँगन में प्रकाश फेंकती रही और जब स्वप्नों की दुनिया में स्वामी के लड़-भिड़कर कलकत्ते भाग जाने की बात से डरी हुई सुजाता ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं, तो दूधवाला

कई आवाज़ें दे चुका था। आँगन में धौला-धौला प्रकाश फैलने लगा था और सामने के आले में दो चिड़ियाँ दिन का स्वागत-गान गा रही थीं। सोमेन शायद तब स्वप्न-लोक में जापान के वायुयानों से बमों को गिरते देख रहा था और इसी कारण कभी-कभी काँपने का नाट्य कर जाता था। सुजाता ने शीघ्रता से बाहर जाते-जाते पुकारा—उठो जी, दिन निकल आया है। सोमेन भी उठा, बच्चे भी उठे, घर में फिर रोज की तरह चहल-पहल शुरू हो गयी। झाड़ू-बुहारू, चौका-बासन, दातुन-कुल्ला, चाय-पानी सभी कुछ पूर्ववत् चला। अखबारवाला पुकारकर अखबार डाल गया। सोमेन ने चुपचाप उसे पढ़ लिया, फिर स्नान किया, भोजन किया और दफ्तर चला गया। यह सब और दिनों की तरह आज भी हुआ, परन्तु दिल-ही-दिल में दोनों सकुचे-से, रिसाये-से रहे, न सुजाता हँसी, न सोमेन ने अट्टहास किया। बच्चे खेलने के लिए बाहर निकले सो निकले, किसी ने उन्हें पुकारा भी नहीं। दोनों भरे हुए थे, परन्तु जैसे ही, सोमेन आँखों से ओझल हुआ, सुजाता का कण्ठ खुल गया! चीखकर पुकारा—अरे रज्जू! अरी अमला! कहाँ गये तुम कम्बख्तो! सवेरा हुआ नहीं भिखमंगों की तरह बाहर निकल जाते हैं, मैं कहती हूँ, तुम्हारे नसीब में भीख माँगना ही लिखा है...अमला तब चीखती हुई आ रही थी, लपककर उसे पकड़ लिया और तड़ाक से एक तमाचा उसके गाल पर जमा दिया, वह तड़प उठी। देर तक साँस नहीं आयी। मुँह सुर्ख हो उठा। सुजाता की आँखों में क्रोध बरस रहा था, जरा भी नहीं पिघली, बोली—जान से मार डालूँगी, अब बाहर निकली तो। कहाँ है वह रज्जू?

अमला चीखती ही रही, बोली नहीं।

'बताती नहीं?'

अमला काँपी, सहमी, और भी ज़ोर से चीख उठी, फिर न जाने क्या सूझा, ज़मीन पर लेटकर जोर-जोर से हाथ-पैर पटकने लगी। बस,

सुजाता यहीं कच्ची थी। अमला ने हाथ-पैर पटके नहीं और उसे हँसी आई नहीं। बरबस हँस पड़ी और अमला को जबरदस्ती अपनी छाती में भरकर उठा लायी—चुप ! चुप !!

....

'कहाँ गयी थी...?'

..................!

'दूध नहीं पियेगी ?'

बस अमला का सप्तम स्वर नीचे उतरने लगा और दोनों हाथों से आँसुओं को इधर-उधर पोंछ-पाँछकर उसने सुसकते-सुसकते कहा—पिऊँगी।

'बुला रज्जू को भी।'

अमला ने अब शिकायत की—मुझे भइया ने माला।

'कहाँ है वह, उसे मैं मारूँगी।'

तब तक वे भी आकर मा के गले से झूलने की चेष्टा कर रहे थे। अमला ने देख लिया, हँसकर बोली—दूध पी ले ! मा ! भइया आ गया।

सुजाता ने अमला को देखा, फिर रज्जू को देखा, मुस्कराई और दोनों के आगे एक-एक कटोरा बढ़ाकर बोली—पियो।

और उठी कि कल भाजी में आये दो लड्डू ला दे तभी बाहर से किसी ने पुकारा—भाभी !

सुजाता को मानो मौत ने पुकारा, काँप गई। लेकिन पुकारने वाला अन्तू था, अन्दर चला आया; बोला—नमस्ते, भाभी !

सुजाता ने उस क्षण पृथ्वी को फटते और अपने को उसमें समाते देखा और देखकर वह बड़े जोर से हिली, लेकिन किसी तरह अपने को बटोर-बटारकर बोली—आओ, अन्तू !

'आया हूँ कि धन्यवाद देता चलूँ।'

'धन्यवाद !'—सुजाता के मुँह से निकला और शरीर बड़े जोर से काँपा।

अन्तू बोलता रहा—भइया दफ्तर जाते-जाते मुझे सौ रुपए दे गये थे। कहते थे, तुम्हारी भाभी ने रिलीफ फण्ड में दिये हैं......

सुजाता की साँस रुक-सी गयी, आँखें चमक उठीं। उसी तरह खड़े-खड़े दीवार थाम ली। अन्तू कह रहा था—भइया ने बताया, इस बार जो रज्जू का कर्ण-भेद-संस्कार करना था, वह नहीं होगा, उसी के लिए जोड़े हुए रुपए तुमने भेजे हैं।

....

'और भाभी ? भइया वैसे बड़े अजीब आदमी हैं, कहने लगे, मैं तो दान-दून में विश्वास करता नहीं, परन्तु इस समय उनकी रक्षा न की गई तो सारे देश का साहस टूट जायेगा और युद्धकाल में यह सब से बुरी बात है......।'

सुजाता अब भी नहीं बोली।

अन्तू ने ही कहा—मैंने कहा भइया ! कुछ भी समझ लो। मतलब नाक पकड़ने से है ! खैर, भाभी ! जा रहा हूँ, बहुत काम है, लेकिन आज मुहूर्त्त शुभ हुआ है, घर-घर तुम्हारी चर्चा करके पैसा माँगूँगा, इसलिए तुम्हें प्रणाम करने आया हूँ।

इतना कहकर अन्तू ने हाथ जोड़े और बाहर चला गया। सुजाता अब तक उसे देख रही थी। अब एकदम जहाँ खड़ी थी, वहीं बैठ गई। हृदय पिघल आया। आँखों में आँसू उमड़ पड़े, पर अब उनमें विषाद नहीं—हर्ष भरा हुआ था।

द्वन्द्व

कहानी के नवीन लेखकों में विष्णु प्रभाकर की रचनाओं में अच्छा द्रावक प्रभाव दिखाई पड़ता है। करुणा-भावना को जगाने के लिए जिस प्रकार का इतिवृत्त और उपादान वे संग्रह करते हैं उसमें युगधर्म जीवित रहता है। इस युग-चित्र के वर्तमान से संबद्ध होने के कारण उसका प्रभाव सभी पर सरलता से पड़ता है। विषय के निर्वाचन में—देशप्रेम और अकाल प्रेरित दारिद्र्य का उद्घाटन ही मुख्य है; पर हृदयस्पर्शी करुणाशीलता और अन्तर्वृत्तियों के निराकरण की ओर लेखक ने बड़ी तत्परता दिखाई है। उनकी विभिन्न कहानियों में एक तत्त्व प्रायः वर्तमान मिलता है—मानवता। मनुष्य की सहज वृत्ति यही मानवता है। जगत् के नानात्व से उत्पन्न हुए अनेक पृथकताबोधक भावों का संघर्ष रहने पर भी मूलतः मनुष्य अपनापन नहीं त्यागन करता और दया-करुणा, ममत्व-सौजन्य आदि सात्विक वृत्तियों से प्रेरित होकर उसकी वृद्धि मंगलोन्मुख हो उठती है।

'द्वन्द्व' कहानी में लेखक ने जैसा इतिवृत्त सामने रखा है उसमें कुछ लोगों को एकदेशीयता और कालविशेषत्व की परिस्थिति बाधक मालूम पड़ सकती है पर आद्यन्त अनस्यूत मानव प्रकृति की ऐसी तरलता भी झलक रही है जो न तो काल से बाँधी जा सकती है न किसी देश-विशेष से। सुजाता मानवीय उद्रेक की मूर्तिवत् दिखाई पड़ती है। अकाल-पीड़ितों की कठोर दुर्दशा चित्रों द्वारा देखकर उसके हृदय के सब तार एक साथ ही झंकृत हो उठे और उसी उद्वेग की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के एकांत संवाद में झलकी है। वेदना की अनुभूति उसमें इतनी तीव्रता से लगी है कि उस संवाद के बौद्धिक नियंत्रण से दब नहीं सकी है। दूसरे दिन प्रातःकाल की उसकी मुद्रा और बच्चों के प्रति प्रकट किये गये लेप

"ममता जी, मेरे!"

में वही अनुभूति भरी मिलती है। वह अपने पति की बुद्धिजन्य निर्लिप्तता में किसी प्रकार का योग नहीं देती और उसके आफिस चले जाने पर घरेलू वातावरण में डूबने की एक बार चेष्टा भी करती है कि मूल बात को ही मन से निकाल दे, पर सहसा अनन्त को पुनः आया पाकर वह काँप उठती है। अन्त में उत्पन्न हुए द्वन्द्व को सामने रखना ही इस कहानी का अभिप्राय है। एक ओर अकाल की विभीषिका है तो दूसरी ओर लड़कों का मूड़न। माता का हृदय लड़कों के मूड़न में ममत्व देखता है पर नारी की उदारता आगे बढ़कर बुभुक्षार्त के करुण पुकार तक पहुँचती है। मूड़न के स्थान पर सहानुभूतिपूर्ण दान को पाकर वह पिघलकर हर्षित ही होती है और तभी उसकी आन्तरिक वेदना समाप्त होती है। सुजाता और सोमेन का द्वन्द्व भी प्रतीकात्मक है—हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व।